आचार्य विद्या सागर कृत

निजामृतपान

(आचार्य अमृतचन्द्रदेव कृत श्री समयसार कलश का हिन्दी पद्यानुवाद)

•

प्रकाशक

बाबूलाल सेठी
मन्त्री, राजस्थान जैन सभा
चाकसू का चौक, जौहरी बाजार, जयपुर-३०२००३

•

प्रथम आवृत्ति

मई, १६७६

•

प्राप्ति स्थान

राजस्थान जैन सभा
चाकसू का चौक, जौहरी बाजार, जयपुर-३०२००३
कजोडीमल भागचन्द
सरावगी मोहल्ला, अजमेर
दीपचन्द चौधरी
C/o हीरा सोप वर्क्स
मदनगज, किशनगढ

•

मुद्रक :

सर्वेश्वर प्रिन्टर्स
मनिहारो का रास्ता, मकान नं० १८०४, जयपुर-३०२००३

•

मूल्य

साधारण संस्करण रुपये 3 00
सजिल्द संस्करण रुपये ५ 00
पुस्तकालय संस्करण रुपये ७.00

NIJAMRATPAN Acharya Vidya Sagar
Religion-1979

卐 विषयानुक्रमणी 卐

।। श्री वीतरागाय नम ।।

छन्द–वसन्ततिलका

विद्या-स्तवन

है कीर्ति पूर्ण जग मे जिनकी समाई,
वेराग्य मे रग गये पितु मातु भाई ।
है भद्रमूर्ति मन मैं छल ना विकार,
विद्यादिसागर जजें निज हो विहार ।। १ ।।

पा 'ज्ञानसागर' गुरु गरिमा वढाई,
औ ! ज्ञानलक्ष्मि जिनके उर मे समाई।
स्या(त्)वाद से विमल है जिनके विचार,
विद्यादिसागर जजें निज हो विहार ।। २ ।।

वाणी सुधारस सदा सवको पिलाते,
अज्ञान, भेद, मत-सशय को मिटाते।
ऐसे जिनेन्द्र लघु है जग मे प्रचार,
विद्यादिसागर जजें निज हो विहार ।। ३ ।।

है सघ पूर्ण, जग से परिमुक्त नेता,
ध्यानादि लीन तप इन्द्रिय के विजेता।
देवादि क्या मनुज नाग किया सुप्यार,
विद्यादिसागर जजें निज हो विहार ।। ४ ।।

हैं धर्ममूर्ति अनुकूल चतुर्थ काल,
ले भव्य पाद-रज से उर मुक्तिमाल ।
हो 'सन्मति', मुनि वनू मन का विचार,
विद्यादिसागर जजें निज हो विहार ।। ५ ।।

—क्षु. सन्मतिसागर

जे तपसूरा सजमधीरा, सिद्धवधू अणुराईया।
रयणत्तयरजिय, कम्महगजिय, ते ऋषिवरमय झाईया ।।

आचार्य १०८ श्री विद्यासागरजी मुनिराज

जन्म	मुनिदीक्षा	आचार्यपद
आश्विन शुक्ला पूर्णिमा	आषाढ शुक्ला पचमी	मार्गशीर्ष कृष्ण प्रतिपदा
वि० स० २००३	वि० स० २०२५	वि० स० २०२९

अपनी बात

इस काव्य के रचयिता परम पूज्य १०८ आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की शास्त्रसम्मत कठोर तप साधना, निरन्तर ज्ञानार्जन एव आत्म कल्याण मे रहने के विषय मे अनेक विद्वतगणो से गत वर्षों मे जानकारी प्राप्त होती रही और आचार्य श्री के साक्षात् दर्शन हेतु मन लालायित रहता रहा।

दिनाक ५ अप्रेल ७९ को आचार्य श्री के पदमपुरा तीर्थ क्षेत्र पर पधारने का पावन सन्देश प्राप्त हुआ। मन मे दर्शनो की तीव्र लालसा जागृत हो उठी। सभा के अध्यक्ष श्री राजकुमारजी काला, वरिष्ठ सदस्य श्री कपूरचन्दजी पाटनी को जैसे ही इस सम्बन्ध मे जानकारी दी, सभी अपने समस्त व्यस्त कार्यों को छोडकर शीघ्र ही आचार्य श्री के दर्शनार्थ रवाना हो गये।

परम तपस्वी आचार्य श्री की शान्त एव वीतराग मुद्रा का जैसे ही साक्षात्कार हुआ, सबका मस्तक स्वत नत हो गया। हृदय मे जो आन्तरिक सुख एव शान्ति का सवेदन हुआ उसे शब्दो के माध्यम द्वारा व्यक्त करना सम्भव नही।

इसी अवसर पर आचार्य श्री को सभा द्वारा १९७७ एव १९७८ मे प्रकाशित महावीर जयन्ती स्मारिका की प्रति अवलोकनार्थ प्रस्तुत की एव आचार्य श्री से इस वर्ष प्रकाशित की जाने वाली स्मारिका मे अपना लेख देने एव जयपुर पधारने हेतु विनम्र निवेदन किया।

आचार्य श्री ने अनुग्रह कर अपने निबन्ध 'चेतना के गहराव' मे, जो कि आचार्य श्री द्वारा लिखित समयसार कलश के पद्यानुवाद, 'निजामृतपान' के भूमिका का एक अश है, की कृति सुलभ करा कर स्वीकृति प्रदान की। इसमे जो उन्होंने आत्म-नवनीत दिया है वह उनके आत्म रस के मथन का परिचायक है।

यह हमारा परम सौभाग्य है कि अद्भुत निजात्म-रस से परिपूरित हिन्दी काव्य, 'निजामृतपान'—जिसे कि आचार्य श्री ने अपने कुण्डलपुर के द्वितीय चातुर्मास

मे पूर्ण किया है—के प्रकाशन हेतु आचार्य श्री ने हमे सहज भाव से स्वीकृति प्रदान की।

इससे पूर्व कि आचार्य श्री के काव्य के सम्बन्ध मे दो शब्द निवेदन करू— आचार्य श्री का जीवन परिचय देना मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ।

आचार्य श्री का परिचय देना सूर्य को दीपक दिखाने की दृष्टता होगी। आचार्य श्री का वास्तविक परिचय तो उनकी आत्म साधना एव आत्मानुभूति हैं जिन्हें शब्दो में प्रकट करना लेखनी की शक्ति से बाहर है। जैन समाज के वरिष्ठ विद्वान कैलाशचन्दजी शास्त्री के शब्दो में—'आपके प्रवचनो में अध्यात्मी कुन्दकुन्द एव दार्शनिक समन्तभद्र का समन्वय मिलता है। तन से नितान्त निरीह और मन से अति निस्पृह। आचार्य श्री ऐसे तपस्वी है जो लोक रजन की भावना से रहित जन मोहिनी से असपृक्त तथा भौतिक कौलाहल से दूर रहते हैं।'

जयपुर प्रवास मे ऐसे अनेको श्रावकों को आचार्य श्री की चर्चा और विद्वता के प्रति नत–मस्तक होते देखा है जो धर्म के प्रति आस्था नही रखते हैं। आचार्य श्री के व्यक्तित्व में ऐसा गुरुत्वाकर्षण है कि व्यक्ति स्वत 'आत्म-अमृत' प्राप्ति हेतु खिचा चला आता है।

जीवन परिचय

दिगम्बर साधु सस्था के उज्जवल ध्रुव तारे का बचपन का नाम विद्याधर है। आश्विन शुक्ला पूर्णिमा वि स २००३ की मगल बेला में सदलगा, जिला–बेलगांव, (कर्नाटक) मे आपका जन्म हुआ। आपके पिता श्री मल्लप्पाजी (मुनिराज मल्लिसागरजी) तथा मातुश्री श्रीमतीजी (आर्यिका समयमतिजी) है। आपका गौत्र अष्टगे हैं। आपके तीन भ्राता व दो बहने हैं। दो भाई एल्लक दीक्षा लेकर आचार्य श्री के साथ ही ज्ञान ध्यान मे लीन है तथा एक बहिन भी आर्यिका दीक्षा लेकर आत्म साधना मे लीन है। विद्याधर ने माँ–बाप के प्यार के साथ ही मराठी माध्यम से हाई स्कूल तक शिक्षा ग्रहण की।

बालक विद्याधर यथा नाम तथा गुण के धारक थे। बाल्यकाल से ही आपकी बुद्धि कुशाग्र है। आपने ६ वर्ष की अल्प आयु में ही प्रात स्मरणीय आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज का उपदेश श्रवण कर अपने को धन्य माना और स्वय को मुक्ति पथ का पथिक बनाने की ठान ली।

ब्रह्मचर्य पथ की ओर

घटना उन दिनों की है जब आचार्य श्री देशभूषणजी महाराज खान्या मे ससघ विराजमान थे। गौर वर्ण और सौम्य मुद्रा से युक्त एक बालक ने आचार्यरत्न श्री देशभूषणजी महाराज से आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया। किसे पता था यह बालक ही आगे जाकर आचार्य श्री विद्यासागर बनेगा और समग्र साधु सस्था की धवल कीर्ति-पताका फहरायेगा।

वैराग्य पथ :

ब्रह्मचर्य व्रत के पश्चात् बालक विद्याधर प्रात स्मरणीय आचार्य श्री ज्ञान सागरजी के सानिध्य मे आया। आचार्य श्री ने बालक विद्याधर मे जो देखा उसे उसी अनुरूप बनाने मे वे लगे और अपने इस योग्य शिष्य को विद्याध्ययन कराया।

मुनि दीक्षा :

आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने अजमेर पावस प्रवास मे आषाढ सुदी ५ सवत् २०२५ तदनुसार दिनाक ३० जून, १९६८ को ब्रह्मचारी विद्याधर को दिगम्बरी दीक्षा प्रदान की। गुरु-शिष्य का यह सयोग मणि—काचन के सयोग के समान अत्यन्त आकर्षण का विषय रहा। विद्या तथा दीक्षा गुरु के साथ रहकर मुनिश्री विद्यासागरजी ने जैनागम के अगाध सागर का अवगाहन कर अपनी ज्ञान गरिमा में वृद्धि की।

आचार्य पद :

आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने अपना अन्तिम समय जानकर अपने इस सुयोग्य शिष्य मुनिश्री विद्यासागर जी को नसीराबाद मे २१ नवम्बर, १९७२ के दिन आचार्य पद से विभूषित किया और स्वय ने सल्लेखनापूर्वक समाधि ले ली।

महा तपस्वी :

शीतकाल मे भी मात्र एक चटाई के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु तक का भी उपयोग नही करते है। गत शीतकाल मे तो आपने कई बार चटाई का भी उपयोग नहीं किया।

आप श्री की यह विशेषता है कि आप अपने विहार व विश्राम आदि की किसी भी प्रकार की पूर्व सूचना नही देते। जब इच्छा हुई पीछी—कमण्डल के साथ चल दिये।

संघ न्यासक :

आचार्य श्री विद्यासागरजी के सघ के जव दर्शन करते हैं तो सहसा यह विश्वास नही होता कि अल्पायु मे ये सभी युवक वैराग्य पथ के पथिक कैसे हो गये ? सारे सघ मे कोई ही ऐसा हो जिसने ३० वर्ष की वय पार की हो। इन युवा पिच्छी-कमण्डल धारियो का दल जव पाद-विहार करता हुआ ग्राम या नगर मे प्रवेश करता है तो सहसा किसी को भी यह विश्वास नही होता कि आगत मे यह दिगम्बर श्रमण वन भगवान महावीर के पथ की ओर वढेंगे। आप श्री के प्रेरक उद्वोधनो से, जीवन का रहस्य जानने को, ससार की असारता से मुँह मोड वैराग्य पथ की ओर वढने वाले हैं—

श्री १०५ ऐलक श्री योगसागरजी
श्री १०५ ऐलक श्री नियमसागरजी
श्री १०५ ऐलक श्री समयसागरजी
श्री १०५ ऐलक श्री दर्शनसागरजी
श्री १०५ क्षुल्लक श्री शीलसागरजी
श्री १०५ क्षुल्लक श्री सयमसागरजी
श्री १०५ क्षुल्लक श्री चरित्रसागरजी

आप श्री अपने शिष्यो को अपने समान वनाने मे कृत है। इन युवा पिच्छी-कमण्डल धारियो से युवको को प्रेरणा लेनी चाहिए।

पावस प्रवास

अव तक आचार्य श्री विद्यासागरजी ने निम्न स्थानो पर पावस प्रवास किए हैं
१९६८ सोनीजी की नसिया, अजमेर (राज)
१९६९ केशरगज, अजमेर
१९७० रेनवाल-किशनगढ (राज)
१९७१ मदनगज–किशनगढ
१९७२ नसीरावाद (उ प्र)
१९७३ व्यावर (राज)
१९७४ सोनीजी की नसिया, अजमेर
१९७५ फिरोजावाद (उ प्र)
१९७६ कुण्डलपुर (दमोह) म प्र
१९७७ कुण्डलपुर (दमोह) म प्र
१९७८ नैनागिरि, छतरपुर (म. प्र)

ज्ञान के भण्डार :

आचार्य श्री विद्या सागरजी यथा नाम तथा गुण के प्रमाण है। आप न्याय, व्याकरण, साहित्य, आगम तथा आध्यात्म आदि अनेक विद्याओ मे पारगत है। मातृभाषा कन्नड होते हुए भी आप श्री का मराठी, हिन्दी, अग्रेजी, सस्कृत तथा प्राकृत पर पूर्ण अधिकार है। अपने दीक्षा गुरु प्रात स्मरणीय आचार्य श्री ज्ञान-सागरजी ने अपनी ही तरह अपने इस शिष्य को भी निष्णात विद्वान बनाया।

आप श्री सतत् ज्ञानाभ्यास रत रहते हैं। एक क्षण भी व्यर्थ चर्चाओ मे व्यय नहीं करते।

आपश्री की मातृ भाषा कन्नड है परन्तु जब उपदेश देते हैं तो कोई भी श्रोता यह कहता है कि आपकी भाषा प्रवचन भाषा ही है। आपके प्रवचन पूर्ण आध्यात्मिकता का रस लिए हुए होते हैं।

काव्यकार-:

अपने पूज्य गुरु की तरह आपश्री ने भी अभूतपूर्व काव्य साधना की है। आपके गुरु आचार्य श्री ज्ञानसागरजी जयोदय, वीऐदय, दयोदय आदि काव्यो के प्रणेता रहे हैं उसी तरह आपश्री ने श्रमण शतक, निजानुभव शतक, निरञ्जन शतक, तीर्थ शतक, भावना शतक, योगसार, समाधि तन्त्र, मुक्तक शतक, इष्टोपदेश, एकीभाव स्तोत्र, कल्याण मन्दिर स्तोत्र, समणसुत्त, समयसार आदि का पद्यमय अनुवाद किया है। आपश्री का प्रिय छन्द वसत तिलका है। जब आप इस छन्द मे काव्य की पक्तिया सुनाते हैं तो श्रोता मन्त्रमुग्ध सा होता विभोर हो जाता है।

ऐसे परम तपस्वी ज्ञान गुण सागर, विद्या वारिधी आचार्य श्री विद्यासागर के जीवनवृत को अपने प्रिय युवा कवि श्री राजमल जैन 'बेगस्या' के शब्दो मे नमस्कार करता हू

इस परम दिगम्बर अवस्था को
विरले महान ही पाते हैं,
पा जाये जो इस अवस्था को
स्वय शुद्ध, बुद्ध परमात्म पा जाते है।

काव्य परिचय—निजामृतपान :

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने श्री 'समयसार' परमागम की रचना की। यह आचार्य श्री के आत्म-वैभव का प्रतीक है। ग्रन्थराज समयसार आध्यात्म का अनुपम पीयूष ग्रन्थ है एव साथ ही साथ उच्च कोटि का दर्शन शास्त्र भी। समयसार का शाब्दिक अर्थ है आत्मा का शुद्ध स्वरूप।

इस पर श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने 'आत्म ख्याति' टीका लिखी एव साथ ही उन्होंने अध्यात्म रस से भरपूर कलशो (जिन मदिर के शिखर के स्वर्ण कलश के समान) की भी रचना की। इस पर भी कई टीकायें लिखी जा चुकी हैं।

गद्य की अपेक्षा पद्य की ओर पाठक का स्वाभाविक आकर्षण रहता है। इस पर जिस पद्य के साथ स्वरलहरी का भी समावेश हो तो उसके महत्व मे अनेक गुणा वृद्धि हो जाती है एव भावो का हृदयगम होना सहज हो जाता है।

आचार्य श्री विद्यासागरजी ने उसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु समयसार कलश का पद्यानुवाद किया और काव्य को 'निजामृतपान' और छद को 'ज्ञानोदय छद' की सज्ञा दी।

अमृत का कार्य जीवन को अमरत्व प्रदान करना है। रचित पद्यानुवाद की भाषा इतनी भावपूर्ण सुगम एव मधुर है कि जिसका भाव पूर्ण पान (अध्ययन-मनन) निज मे निहित अनन्त गुणो का ज्ञान करा कर शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति की ओर अग्रसर कराता है जो कि अमृत का कार्य है।

पूज्य आचार्य श्री एव सघस्थ अन्य त्यागी जन जब इस को प्रकृति प्रदत्त स्वर लहरी के साथ पढते हैं तब श्रोता मन्त्रमुग्ध सा हो जाता है। यह काव्य आचार्य श्री की भावना के लय पर है। निम्न उद्धरणो से पाठक सहज ही समझ सकेंगे कि अनुवाद कितना मूलानुगामी है और उसमे मूलसूत्र का हार्द कितना उतरा है। भाषा की सुगमता से अर्थ बोध स्वय होता जाता है।

खेल खेलता कौतुक से भी रुचि ले अपने चिन्तन मे,
मर जा "पर कर निजानुभव कर" घडी घडी मत रच तन मे,
फलत पल मे परम पूत को द्युतिमय निज को पायेगा,
देह–नेह तज, सज–धज निज को निज से निज घर जायेगा ॥२३॥

वर्णादिक है रागादिक हैं गुणस्थान की है सरणी,
वह सब रचना पुद्गल की है जिन-श्रुति कहती भवहरणी।
इसीलिए ये रागादिक है मल हैं केवल पुद्गल हैं,
शुद्धात्मा तो जड से न्यारा ज्ञान पुज है निर्मल हैं ॥३९॥

पद पद पर बहु पद मिलते हैं पर वे दुख पद पर पद हैं,
सब-पद मे बस पद ही वह पद सुखद निरापद निज पद है।
जिसके सम्मुख सब पद दिखते दलित–पद आपद हैं,
अत स्वाद्य है पेय निजी पद सकल गुणों का आस्पद है ॥१३९॥

एक भाव वह ध्रुवनिमय चिन्मय चेतन का नित नसता है,
किन्तु भाव सब परके पर हैं तू क्यों उनमें फसता है ?
उपादेय हैं ज्ञेय ध्येय हैं केवल चेतन-भाव सदा,
भाव हेय हैं पर के सारे पुद्गल-अचेतन-भाव कदा ? ॥१८४॥

ज्ञान चरित समदर्शन तीनों एकमेव घुल मिल जाना,
मोक्ष मार्ग है यही समझ लो शिव सुख सम्मुख मिल जाना ।
यही सेव्य है यही पेय है उपादेय है ध्येय यही,
मुमुक्षु-मुनिको अन्य नहीं बस हेय रही या ज्ञेय रही ॥२८६॥

आचार्य श्री ने प्रत्येक अधिकार के अन्त में अपने रचित दोहों में गागर में सागर भर दिया है जो कि निम्न उद्धरणों से स्पष्ट हो जावेगा ।

पाप पुण्य अधिकार

विभाव परिणति यह सभी, पुण्य रहो या पाप ।
स्वभाव मिलता, जब मिटे पाप पुण्य परिताप ॥
पाप प्रथम मिटता प्रथम, तजो पुण्य फल भोग ।
पुन: पुण्य मिटता, बनो आतम निर्मल योग ॥

सर्व विशुद्धज्ञानाधिकार

ज्ञान दुःख का मूल है, ज्ञान ही भव का कूल ।
राग सहित प्रतिकूल है, राग रहित अनुकूल ॥
चुन चुन उनमें उचित को, अनुचित मत चुन भूल ।
समय सार का सार है, निज बिन पर सब धूल ॥

स्यादवाद अधिकार

मेटे वाद विवाद को, निर्विवाद स्यादवाद ।
सब वादों को खुश करे-पुनि पुनि कर सवाद ।

आभार

सर्व प्रथम श्रद्धावन्त हैं पूज्य १०८ आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के जिन्होंने दिगम्बर दीक्षा के पश्चात् प्रथम बार भगवान महावीर की पावन जयन्ती के अवसर पर जयपुर पधार कर जन-जन को आध्यात्म रस का अत्यन्त ही मनोवैज्ञानिक ढंग से सरल एवं सहज रूप में रसास्वादन कराया तथा इस अद्भुत आध्यात्म काव्य के प्रकाशन हेतु अनुमति उपलब्ध कराई ।

निरन्तर प्रकाशन के कार्य में प्रेरणा एवं सहयोग देने हेतु श्री पदमचन्दजी शाह का भी आभारी हूं जिनके सहयोग से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका । प०

वशीधरजी शास्त्री ने श्री समयसार कलश की प्रति उपलब्ध कराई जिसके फलस्वरूप सस्कृत के कलशो का देना सभव हो सका। उन सभी महानुभावो का भी आभारी हू जिन्होने आर्थिक सहयोग प्राप्त करने मे श्रम कर प्रकाशन की आशा को सफली भूत किया।

मैं उन सभी महानुभावो का जिन्होंने इसके प्रकाशन हेतु आर्थिक सहयोग प्रदान किया है अथवा आश्वासन प्रदान किए है आभार प्रकट करना अपना परम् कर्त्तव्य समझता हू।

सर्वेश्वर प्रिण्टर्स के प्रो श्री गोविन्दरामजी ने व्यक्तिगत रुचि ले कर एव दिन रात परिश्रम करके अथक सहयोग प्रदान किया जिसके फलस्वरूप अल्प समय मे यह प्रकाशन करना समव हो सका का भी आभार प्रकट किए विना नही रह सकता।

अन्य सभी महानुभावो का जिन्होंने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से इस कार्य मे सहयोग दिया है उनका भी मैं आभारी हू।

प्रकाशन के कार्य मे जो कुछ कमिया व त्रुटिया रह गई है उसके लिए क्षमा करें एव सूचित करें।

आचार्य श्री के चरणो मे पुन शत शत वन्दन एव इस आशा के साथ कि आगामी चातुर्मास मे आप जयपुर पधारकर अध्यात्म रस का रसास्वादन करावेंगे।

दिनाक ५-५-७९
जयपुर

बाबूलाल सेठी
राजस्थान जैन सभा, जयपुर

चेतना के गहराव में

परम पूज्य आचार्य गुरुवर श्री १०८ ज्ञानसागरजी के पुनीत सानिध्य मे, पूज्य जयसेनाचार्य कृत 'सुगम-सरस-समरसपूरित तात्पर्यवृत्ति के माध्यम से ग्रन्थराज समयसार का रसास्वादन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। तदुपरान्त पूज्य अमृतचन्द्र-सूरि कृत आत्मख्याति 'को देखने की मन मे अभिरुचि हुई। गुरु महाराजश्री के चरणो मे सविनय भावना अभिव्यक्त की। उदार हृदय वाले, करुणा से ओत-प्रोत, वात्सल्य की साकार मूर्ति गो-माता जैसी बछडे को स्तन पिलाती है वैसे ही गुरुवर ने मुझे अपूर्व अध्यात्मरस से परिपूरित, सहज शान्त सुख का विधान, आत्म-ख्याति टीका का रसास्वादन कराया। फलस्वरूप आत्म ख्याति आत्म-सात् हुई। चेतना की लीला ज्ञात हुई। तप्त था, तृप्त हुआ। क्लान्त था, शान्त हुआ। मेरा आत्मा तुष्ट हुआ, सतुष्ट हुआ। निरन्तर अभय की अनुभूति के साथ निराबाध। यत्र-तत्र-सर्वत्र स्वतन्त्र यात्रा कर रहा हू। एकाकी यात्री।

स्वय को अवगाहित कर रहा हू !
अतल, अगम, सत् चेतना के गहराव मे !
मस्तक के बल पर,
दोनो हाथो से,
नीचे से नीर को चीरता हुआ,
चीरता हुआ,
ऊपर की ओर फेंकता हुआ,
फेंकता हुआ,
जा रहा हू,
आर-पार होने जा रहा हू।
अपार की यात्रा करने जा रहा हू।
पथ मे कोई आपत्ति नही है।
आपत्ति की सामग्री अवश्य,
ऊपर-नीचे,
आगे-पीछे
बिछी है।
किन्तु अभी कोई ओर !
छोर
दृष्टि मे नही आ रही है,
शोर भी तो नही।
चारो ओर मौन का साम्राज्य।
विस्तृत वितान।
बस !
सब कुछ स्वतन्त्र
अपनी-अपनी सत्ता को सजोये हुए
सहज सलील समुपस्थित।

परस्पर मे किसी प्रकार का टकराव नही,
लगाव के भाव नही।
अपने अपने ठहराव मे।
अपने अपने सवेदन।
अपने अपने भाव।
पर से भिन्न।
अपने से अभिन्न।
निरभ्र आकाश-मण्डल मे-
उडुगण की भाँति,
ज्ञानादि उज्ज्वल उज्ज्वल गुणमणियाँ
अवभासित हैं,
अवलोकित है।
आलोक का परिणमन यहाँ
घनीभूत प्रतीत होता है।
लो!
यही पर मिथ्यात्व रूपी मगर-मच्छ
से भी साक्षात्कार।
किन्तु उधर से आक्रमण नही,
कटाक्ष नही,
सघर्ष के लिये
कोई आमन्त्रण भी नही।
अनन्तकाँटो से निष्पन्न
उसका शरीर है।
कठोरता का शुद्ध परिणमन
कठोरता की परम सीमा है।
परन्तु मृदुता मे विरोध नही करती।
विरोध मे बोध कहाँ?
बोध विना शोध कहाँ?
विरोध तो अज्ञान का प्रतीक,
अन्धकार॥
ओ!
नयन-गवाक्षो से

फूटती हुई
अबाधित ज्योति किरण
मेरी ओर चान्दी की पतली धार सी,
आ रही है।
सानन्द आसीन है,
सत्तागत अनन्तानुवन्धी सर्प
कदर्प-दर्प से पूरा भरा है।
ज्ञान-ज्ञेय का सहज सम्वन्ध हुआ।
शुद्ध-सुधा
और विष का सगम हुआ।
यह ज्ञान के लिये अपूर्व अवसर है।
ज्ञान न तो दुखित हुआ,
न सुखित हुआ।
किन्तु यह सहज
विदित हुआ
कि
ध्यान-ध्येय सम्बन्ध से भी
ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध
महत्त्वपूर्ण है।
पूर्ण है।
सहज है।
कोई तनाव नही।
इसमे केवल स्वभाव है।
भावित भाव।
ध्येय एक होता है।
जव ध्यान में ध्येय उतरता है,
तव ज्ञान सकीर्ण होता है,
ससीम होता है।
सकुचित ज्ञान
अनत का मुख, छू नही सकता।
अत ज्ञान प्रवाहित होता हुआ,
अनाहत वहता हुआ

जा रहा है।
सहज अपनी स्वाभाविक गति से।
अद्भुत है।
अननुभूत है।
विकार नही,
निर्विकार है।
तप्त नही,
क्लान्त नही।
तृप्त है,
शान्त है।
जिसमे नही ध्यान्त है।
जीवित है।
जागृत भी नितान्त है।
अपने मे विश्रान्त है।
यह विभूति!
अविकल, अनुभूति!
ऐसे ज्ञान की शुद्ध परिणति का ही
यह परिपाक है,
कि उपयोग का द्वितीय पहलु,
दर्शन ने अपने चमत्कार का परिचय देना,
प्रारम्भ किया है।
अब भेद
पतझड होता जा रहा है,
अभेद की वसन्त क्रीडा प्रारम्भ!
द्वैत के स्थान पर
अद्वैत उग आया है।
विकल्प मिटा,
अविकल्प उठा।
आर-पार हुआ,
तदाकार हुआ

निराकार हुआ,
समयसार हुआ
वह मैं!!!
...मैं मे सब,
सब मे 'मैं'
प्रकाश मे प्रकाश का अवतरण।
विकाश मे विनाश उत्सर्गित होता हुआ,
सम्मिलित होता हुआ,
सत् साकार हो उठा।
आकार मे निराकार हो उठा।
इस प्रकार
उपयोग की लम्बी यात्रा
मत्, त्वत् और तत् को
चीरती हुई,
पार करती हुई,
आज!!!
सत् मे विश्रान्त है।
पूर्ण काम है।
अभिराम है।
हम नही,
तुम नही,
यह नही,
वह नही,
मैं नही,
तू नही
सब घटा,
सब पिटा,
सब मिटा,
केवल उपस्थित
सत्, सत् सत् सत् है! है! है! है!

ज्ञात से अज्ञात की ओर जाने के लिए भगवत् कुन्दकुन्द आचार्य कृत समय-सार, पथ एव पाथेय का कार्य करता है। इसका आश्रय लेकर ही सत्-पथ-पथिक, ध्रुव-बिन्दु की ओर गतिमान होता हुआ, समुचित-समय पर कृत्य-कृत्य हो जाता है। सत्य तथ्य पाता है। ऐसे अपूर्व ग्रन्थराज समयसार के ऊपर, सर्वप्रथम अमृत चन्द्र सूरिजी ने आत्म-ख्याति नामक बृहत् सस्कृत टीका का अविमान किया जो अपने आप मे एक अनुपम निधि है। मैंने जब इसका अवलोकन किया, तब भाषा की गहनता का पूर्ण परिचय मिला और साथ-साथ अनुपम पद लालित्य ने मन को मोहित किया। इसी पद लालित्य ने इस कृति का बार-बार अवलोकन कराया। फलस्वरूप विषय विदित हुआ, अवगत हुआ, आत्मा से सहज सगम हुआ।

समयसार–सार

हम भाषा के माध्यम से, मन मे उठते हुए विचारो को दूसरो तक सहज एव स्पष्टरूपेण भेज सकते हैं। इसी प्रकार ग्रन्थ के गूढतम विषयो को टीकाओ, भाष्यो एव अनुवादो के माध्यम मे अवगत करा सकते हैं। भाव स्पष्ट करने की पद्धति भिन्न–भिन्न हो सकती है। कोई लेखक गद्य के, कोई पद्य के, कोई उभय नाटक (चम्पू) के माध्यम से ग्रन्थ के आशय को उद्घाटित करते हैं। प्रासगिक समयसार पर लिखी हुई आत्म-ख्याति टीका भी नाटक पद्धति का अनुकरण करती है जो विश्व का प्रथम सस्कृत नाटक काव्य माना जा सकता है। अत इस नाटक काव्य के अन्तर्गत आई हुई २७८ भिन्न-भिन्न कारिकाओ का (काव्यो का) पृथक रूपेण सकलन कर ग्रन्थ का रूप देना नाटक काव्य-प्रणाली को समाप्त-लुप्त करना है जो इष्ट नही है। तथापि हमने इन कारिकाओ का पृथक जो पद्यानुवाद किया है, उसका कारण भिन्न है। उसका स्पष्टीकरण यही आगे करेंगे।

आचार्य कुन्दकुन्द की तीन रचनाएँ बहुत प्रौढ मानी जाती हैं। एक प्रवचन सार, दूसरा पचास्तिकाय और तीसरा समयसार। इन्ही तीन रचनाओ पर पू० अमृतचन्द्र सूरि ने विषद-सस्कृत टीकायें लिखी हैं जो भाषा की दृष्टि से बहुत क्लिष्ट बन पडी है और शब्दान्वयी नही होने से प्रत्येक पाठक की, मूल तक गति नही हो पाती है। इन्ही समयसार आदि पर पूज्य जयसेन आचार्य कृत टीकायें, जो शब्दान्वयी है, उपलब्ध होती हैं, अत सुगम सरस होने से मूल ग्रन्थो की कली कली खोलती है। कुन्दकुन्द से परिचय कराती है। एक विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इन उभय टीकाओ मे मूल गाथाओ की सख्या समान नहीं मिलती। पूज्य आ० अमृतचन्द्र की टीकाओ मे कम और आचार्यवर्य जयसेनजी की टीकाओ मे अधिक। (बहुत कुछ विचार करने के उपरान्त भी रहस्य खुल नहीं रहा था) किन्तु जब प्रवचन–सार की चूलिका अवलोकन कर रहा था, उस समय एक विशेष प्रसग

पर ध्यान गया—वह प्रसग है "स्त्री–मुक्ति निषेध का"। वहाँ पर एक साथ १०-१२ गाथायें छूटी है जिन पर आ० अमृतचन्द्र सूरिजी की टीका उपलब्ध नही होती। जबकि उन सभी प्रासगिक गाथाओ की टीका आ० जयसेनजी ने लिखी है। ज्ञात होता है कि आ० अमृतचन्द्रजी को स्त्री मुक्ति निषेध का प्रसग इष्ट प्रतीत नही हुआ। आगे जाकर उभय टीकाओं की समाप्ति पर क्रमश दो प्रशस्तिया भी मिलती हैं। आ० अमृतचन्द्रसूरि कृत टीका सम्बन्धी जो प्रशस्ति लिखी गई है, उसमे काष्टा सघ की परम्परा का ज्ञान कराया गया है और जयसेन आचार्य कृत टीका की प्रशस्ति मे मूल-सघ की परम्परा का ज्ञान कराते हुये आ० श्री जयसेनजी को मूल सघ के अन्तर्गत माना गया है। इस प्रकार उभय प्रशस्तियो से ज्ञात होता है कि आ० श्री जयसेनजी मूल सघ के और अमृतचन्द्र सूरिजी काष्टा सघ के सिद्ध होते हैं। टीकागत गाथायें कम बढ क्यो ? इस विषय की अनवेष्णा ने मुझे सघ का निर्णय कराया। इससे एक नवीन विषय उपलब्ध हुआ।

मनोगत भावो को भाषा का रूप देना तो कठिन है ही, उन्हे लेखबद्ध करना उससे भी कठिन है। भाषा को काव्य के साचे मे ढालना तो कठिन मे कठिनतर कार्य है। प्रत्येक लेखको को काव्य कला प्राप्त नही होती। काव्य-कला निष्णान्त लेखनी मे, काव्य के नियमो का उल्लघन किये बिना, भाषा एक विशेष लय मे डूबती जाती है और वही काव्य बनता है। श्राव्य बनता है। सामान्यत पद्यात्मक रचना को ही काव्य सज्ञा प्राप्त है। किन्तु काव्य का यह सही लक्षण नही है। कवे कृति काव्यम्। कवि की प्रत्येक कृतिया काव्य है। चाहे गद्य हो, चाहे पद्य, वह काव्य है जिससे पर्याप्त मात्रा मे लय-ध्वनिया फूटती हो। आत्म-ख्याति भी एक अनुपम काव्य है जो अध्यात्म रस से भरपूर है। इस काव्य मे, नाटक की पद्धति होने से, प्रत्येक अधिकार मे कुछ पद्य काव्य भी हैं जो काव्य-रसिक-पाठक के चचल मन को अविचल बनाते हैं और अध्यात्म की गहराइयो मे सहज ही ले जाते हैं। उन पद्य काव्यो की सख्या २७८ है। इन्हीं का सकलन आज वर्तमान मे कलशा के नाम मे ख्याति प्राप्त है। किन्तु ये भिन्न-भिन्न छन्दो–बन्धनो से अलकृत है। कही अनुष्टुप् आर्या, द्रुतविलंबित आदि छन्द हैं, तो कही मन्दाक्रान्ता, शार्दूल, शिखरिणी वसन्ततिलका, स्रग्धरा, मालिनी आदि छन्द है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि आचार्य श्री को केवल छन्द शास्त्र का ही ज्ञान नही, अपितु उन पर अधिकार भी है।

लयात्मक काव्य का (अतुकान्त) आविष्कार

कुछ दिनो तक इस कलशा का प्रतिदिन पाठ भी किया करता था। फलस्वरूप कुछ काव्य कण्ठस्थ भी हुए थे। किन्तु १८८ वा काव्य, जिसमे यद्यपि नय की धारा

प्रवाहित है, कण्ठस्थ होना तो दूर रहा, किन्तु कण्ठ को ही पकडने लगा, लगा मुझे, इस काव्य मे अवश्य दोष है या मुझे इस छन्द का ज्ञान नही है। तब भिन्न-भिन्न सस्थाओ से प्रकाशित समयसार का एव कलशो का अवलोकन प्रारम्भ किया। किन्तु कुछ भी हाथ नही लगा। एक दिन निर्णय सागर मुद्रणालय से मुद्रित प्रथम गच्छक का अवलोकन कर रहा था। तब प्रासगिक काव्य को सख्या क्रम मे तो स्थान मिला था, परन्तु इस काव्य के सम्मुख प्रश्नार्थक चिन्ह अवश्य लगा था। तब लगा कि इस काव्य मे कुछ ना कुछ रहस्य अवश्य है। इसी वर्षा योग की बात है, सिद्ध क्षेत्र-नैनागिरि पर डा० पन्नालालजी साहित्याचार्य से भी इस काव्य के सम्बन्ध मे चर्चा हुई। आपने भी यह कहा कि आज तक इसके सम्बन्ध मे कुछ निर्णय नही हुआ कि यह गद्य है या पद्य और कुछ ऐसे ही प्रकरण हरिवश आदि पुराणो मे भी उपलब्ध होते है। पडितजी के विचार सुनकर और भी अभिरुचि बढ गई कि इस काव्य के सम्बन्ध मे सही-सही निर्णय लेना ही होगा। अत इस ओर अविरल चिन्तन की धारा चलती ही रही। उसी का यह सुफल मानता हू कि आकस्मिक, गत तीन-चार वर्षों पूर्व की बात स्मृति मे उतर आई। वह भी "निराला" की अनामिका और तार सप्तक अज्ञेय का सपादन। इन कृतियो मे भी भाषा न तो गद्य मे ढली है और न तो छन्दो-बद्ध पद्य मे सब बन्धनो से मुक्त, स्वतन्त्र। किन्तु भाषा मे उच्छृखलता, स्वच्छन्दता नही, एक लय बद्ध-धारा मे भाषा अपनी सहज गति से प्रवाहित है। यद्यपि सर्वप्रथम इन कृतियो का हिन्दी साहित्य क्षेत्र मे समादर नही हुआ, तथापि नूतन-आविष्कार होने से दिनो-दिन लोकप्रियता बढती गई और ये कृतिया विशेष सम्मानित हैं इसीलिए निराला आदि कवियो को हिन्दी कवि-जगत् लयात्मक नूतन काव्यो के आविष्कर्ता स्वीकार करता है।

इससे यह पूर्ण निर्णय होता है कि प्रासगिक कलशा काव्य सदोष नही किन्तु निर्दोष, एक लयात्मक काव्य है जो हिन्दी लयात्मक काव्यो की अपेक्षा प्राचीनतम है। ऐसी स्थिति मे आ० पूज्य अमृतचन्द्रजी सस्कृत लयात्मक काव्य के आद्य आविष्कर्ता है। अत केवल जैन समाज के लिए ही नही अपितु दिगम्बर साधुओ के लिए भी यह गौरव का विषय है।

ज्ञान आत्मा का अनन्य गुण है। वह आत्मा से किसी भी तरह कभी पृथक हो नही सकता। उसका कार्य केवल ज्ञेय-भूत पदार्थों को जानना है ज्ञेय भूत पदार्थ स्व भी हो सकता है पर भी। किन्तु समयसार मे, आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए, ज्ञान और तद्वान ज्ञानी की स्तुति की गई है। वह ज्ञान सामान्यत तीन प्रकार का है। शब्द-ज्ञान, अर्थ ज्ञान और ज्ञानानुभूति। जैसाकि 'आत्मा' इस शब्द का स्वर व्यजन के साथ ज्ञान होना, शब्द ज्ञान है—अर्थात् इस ज्ञान के साथ अर्थ ज्ञान और ज्ञानानुभूति सम्बन्ध नही रहता। केवल तोते के समान 'आत्मा' 'आत्मा' रटना होता है।

इस ज्ञान के उपरान्त, अर्थ ज्ञान होता है। यह पदार्थ के स्वरूप, लक्षण, गुण धर्म के सम्बन्ध मे परोक्ष रूप ज्ञान कराता है। जैसेकि आत्मा अमूर्त है, ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला है इत्यादि। इन दोनो ज्ञानो के साथ आत्म पदार्थ सम्बन्धी यथार्थ श्रद्धान तो हो सकता है, किन्तु तदनुभूति का कोई नियम नही है। हा, प्राप्त श्रद्धान के बल पर ही इसकी यात्रा ज्ञानानुभूति लिए होगी। ऐसी ज्ञानानुभूति जब तक परिग्रह एव प्रमाद-दशा रहेगी तब तक केवल गृहस्थ को ही नही अपितु दिगम्बर मुनियो के लिए भी प्राप्त नहीं होगी। परिग्रहवान् को भी यदि ज्ञानानुभूति (आत्मानुभूति) का लाभ हो जाये तो कैवल्य प्राप्ति भी होनी चाहिए, क्योकि कैवल्य का कारण ही ज्ञानानुभूति, आत्मानुभूति है। अत गृहस्थ दशा मे ज्ञानानुभूति मानना कैवल्य ज्ञान को प्रकारान्तर से इसी दशा मे मानना है। यह महान दोष है एव सिद्धान्त विरुद्ध है सप्रति ऐसे भी अध्यात्म प्रेमी बन्धु हैं जो शब्द-ज्ञान एव अर्थ-ज्ञान भर को ज्ञानानुभूति-आत्मानुभव मान कर विषय वासना मे आपाद-कण्ठ डूबे हैं और बताते हैं कि विषय-वासना तो चरित्र-मोहनीय का परिणाम है। हम तो ज्ञान मे व्यस्त हैं, मस्त हैं। एकान्त से उनका भी यह कहना दोषपूर्ण नही है क्योकि समय-सार ही एक ऐसा ग्रथ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान भी इसके सही-सही अर्थ से भाव से वचित रह जाते हैं। आज से वर्षो पूर्व की बात है कि समयसार का गहन अध्ययन करते हुए भी प० कविवर बनारसीदासजी बिना रस के ही रहे। उन्ही के शब्दो मे देखिए।

करनी को तो रस मिट्यो आयो न निज को स्वाद।
भई बनारसी की दशा जैसो ऊट को पाद॥

समयसार, समयसार कलश आदि इन ग्रन्थो मे, सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि का भोग, निर्जरा का कारण, इत्यादि प्रयोगो का बाहुल्य है। अत पाठक सहज ही यह निर्णय ले लेता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान गृहस्थावस्था मे भी सम्भव है। अत पूर्वकृत-कर्मों की निर्जरा होगी ही। भोग भले, भोगते रहो, उससे कुछ होने वाला नहीं है इत्यादि। इससे विदित होता है कि प० बनारसीदासजी परम्परा अभी अबाधित चल रही है। बुद्धिमानो को यह विचार करना चाहिए कि भोग निर्जरा का कारण हो तो बन्ध का कारण क्या होगा? और 'सम्यग्दृष्टि का भोग' निर्जरा का कारण है तो कौन से सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का कारण है? क्योकि शुभोपयोग मे आया हुआ सम्यग्दृष्टि जब देव गुरु आदि आराध्यो की आराधना करता है तब उसका भी उपयोग बन्ध का कारण है, ऐसा आगम मे उल्लेख मिलता है। बात यह है कि सम्यग्दृष्टि मुनि या श्रावक के पूजन आदि आवश्यक तो बन्ध का कारण और सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का कारण, यह किस दशा मे?

वन्धुओ ! इन समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थो मे वीतरागी सम्यग्दृष्टि को ही ग्रहण किया है और वीतराग चरित्र के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला वीतराग विज्ञान ज्ञानानुभूति या आत्मानुभव स्वीकार किया है। अत ये रत्नत्रय की निधिया अपरिग्रही निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनियो मे ही उपलब्ध हो सकती हैं। उनका जो पूर्व कर्म के उदय से अनिच्छापूर्वक पचेन्द्रिय विषयो का भोग भोगना होता है वह निर्जरा का कारण होता है रागपूर्वक भोग तो केवल बन्ध का ही कारण है।

अत ग्रहस्थ दशा मे राग के साथ भोगानुभूति तो सभव है किन्तु ज्ञानानुभूति, उपयोगानुभूति तो त्रिकाल असभव। हा ज्ञानानुभूति या आत्मानुभूति ही उपादेय है, ऐसी भावना वह ग्रहस्थ सराग सम्यग्दृष्टि सध्याकालीन सामायिको मे भा सकता है, कर सकता है, करता ही है, किन्तु भावना और अनुभूति, इन दोनो मे उतना ही अन्तर है, जितना अन्तर जल के चिन्तन मे और जलपान मे। अस्तु !

इसी विषय को पुष्ट एव स्पष्ट करने वाले प्रसग कलशा का अनुवाद देखिए !

ज्ञान विना, रट निश्चय, निश्चय निश्चयवादी भी डूबे,
क्रिया-कलापि भी ये डूबे, डूबे सयम से ऊबे।
प्रमत बन कर कर्म न करते अकम्प, निश्चल शैल रहे,
आत्म-ध्यान मे लीन किन्तु मुनि, तीन लोक पे तैर रहे ।।कलशा सख्या १११।।

वीतराग-विज्ञान को स्वीकार किए विना, विषय-कषाय रूपी दलदल मे फसे हुए, अपने आपको ज्ञानी मानने वाले, दम्भी निश्चय-वादी, केवल निश्चय की दिन रात रट लगाते लगाते डूब गये अर्थात् ससार समुद्र को पार नही कर पाये। उसी प्रकार वीतराग की भूमिका का वहि निर्वाह करने वाला-दिगम्बरत्व को स्वीकार करते हुए भी कुछ ऐसे मुनि, जो मात्र वाह्य क्रिया काण्ड मे दिन रात लीन हैं, वे भी भव-कूल-किनारा नही पाये। डूब गये। और सयम से भयभीत होने वाले भी ससार सागर मे डूब गये ! किन्तु ख्याति-पूजा-लाभादिक की वाछा नही रखने वाले सभी प्रकार के प्रमादो से दूर, अप्रमत दशा का अनुभव करते हुए निर्विकल्प-समाधि मे लीन, पर्वत के समान निश्चल, आत्मानुभूति के बल पर वीतरागी ज्ञानी मुनिराज तैर रहे हैं। वे अब ससार-सागर मे डूब नही सकते।

ऐसे ही अनेक प्रसग शुभ-चन्द्राचार्य कृत ज्ञानार्णव मे भी उपलब्ध होते हैं। यथा—

रत्नत्रयमनासाद्य य साक्षाद्ध्यातुमिच्छति ।
खपुष्पे कुरुते मूढ स वन्ध्या सुत शेखरम् ॥सम्यग्दर्शनम्॥

आकाश के फूलो से वन्ध्या के पुत्र के लिए सेहरा (मुकुट) बनाने का प्रयास करने वाला जैसा मूर्ख माना जाता है, वैसा ही रत्नत्रय अर्थात् महाव्रत को स्वीकार किए बिना जो आत्मध्यान की इच्छा करता है वह मूर्ख माना जाता हैं।

अनिषिध्याक्ष सदोह य साक्षात् मोक्तुमिच्छति ।
विदारयति दुर्बुद्धि स शिरसा महीधरम् ॥इन्द्रियदमन पृ० ३४॥

इन्द्रिय-दमन किये बिना, जो व्यक्ति मोक्ष-ध्यान के फल को प्राप्त करने में उद्यत हुआ है वह उसी तरह हास्य का पात्र है जिस तरह कोई मूढ मति-हीन, मस्तक के बल पर पर्वत को फोडने मे रत है। यह निश्चित है कि पर्वत के बदले मे उसका मस्तक ही फूटेगा।

अत वीतराग स्वसवेदन, वीतराग सम्यग्दर्शन, वीतराग चरित्र शुद्धोपयोग स्वरूपाचरण चारित्र, शुद्ध ज्ञान चेतना, शुद्धात्मानुभूति, निर्विकल्प समाधि, आत्मा-ध्यान आदि, इन अपूर्व निधियो का अधिकारी-स्वामी कौन हो सकता हैं यह गूढ रहस्य उद्घाटित हो इसी भावना से कलशा का पृथक् रूपेण भावानुवाद(पद्यानुवाद) किया है। किन्तु अब अनुभव कर रहा हूँ कि इन विषयो को और स्पष्ट करने हेतु कलशा पर, भले ही छोटा हो, परन्तु भाष्य नितान्त आवश्यक है। देखो!! समय पर!!! सम्भावना है!

प्रेरणा

सर्व सेवा सघ, वाराणसी से प्रकाशित समणसुत्तम् का पद्यानुवाद "जैन गीता" के नाम से जो किया है, उसकी पूर्वार्द्ध की पाडुलिपी सतना मे पूर्ण की। उसे देख कर स्थानीय धर्म प्रेमी श्री धीमान् नीरजजी ने कहा कि जैन गीता को पूर्ण करने के उपरान्त हिन्दी के प्रचलित छन्द मे कलशा का पद्यानुवाद हो तो एक नई चीज हम लोगों को उपलब्ध होगी। उत्तर मे मैंने और कुछ नही कहा देखो!!! समय पर जो बन जाये!! अभी तो जैन गीता पूर्ण करना है।

इसी समुचित प्रेरणा का यह सुफल है कि "जैन गीता" को सिद्ध क्षेत्र कुण्डल गिरि पर पूर्ण करने के उपरान्त, उसी पवित्र स्थान पर, ग्रन्थराज समयसार का भी पद्यानुवाद "कुन्द कुन्द का कुन्दन" के नाम से पूर्ण किया। आज यह अध्यात्मरस से भरपूर कलशा का पद्यानुवाद "निजामृत-पान" के रूप मे प्रस्तुत हैं

जो मेरी भावना के लय पर है तथा इस छन्द का नाम आचार्य गुरुवर ज्ञान सागर जी महाराज की पुण्य स्मृति मे ज्ञानोदय रखा है। हा ! यह अनुवाद कही-कही पर शब्दानुवाद बन पडा है, तो कही-कही पर भाव निखर आया है। आशा ही नही अपितु विश्वास है कि "निजामृत पान" का पान कर भव्य मुमुक्षु पाठकगण भावातीत ध्यान मे तैरते हुए अपने आप को उत्सर्गित पायेंगे, चेतना मे समर्पित पायेंगे।

यह सब स्व वयोवृद्ध, तपोवृद्ध एव ज्ञानवृद्ध आचार्य गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी महाराजश्री के प्रसाद का परिपाक है। परोक्ष-रूप से उन्ही के अभय चिन्ह-चिन्हित-युगल कर-कमलो मे "निजामृतपान" का समर्पण करता हुआ ' ।

गुरुचरणारविन्द चचरीक
ॐ शुद्धात्मने नम
ॐ निरजनाय नम
ॐ जिनाय नम
ॐ निजाय नम

—आचार्य विद्यासागर

वीर जयन्ती
(चैत शुक्ला त्रयोदशी)
वीर स० २५०४
दमोह (कुण्डलपुर)

निजामृतपान

मंगलाचरण

दोहा

देवशास्त्र गुरु स्तवन

सन्मति को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय ।
सुर-नर-पशु-गति सब मिटे, गति पचम-गति होय ॥१॥
चन्दन चन्द्र–चादनी, से जिन-धुनि, अति शीत ।
उसका सेवन मैं करू, मन–वच–तन कर नीत ॥२॥
सुर, सुर-गुरु तक, गुरु चरण-रज सर पर सुचढाय ।
यह मुनि, मन गुरु भजन मे, निशि-दिन क्यो न लगाय ? ॥३॥

श्री कुन्द कुन्दाय नमः

"कुन्द कुन्द" को नित नमू, हृदय कुन्द खिल जाय ।
परम सुगन्धित महक मे, जीवन मम घुल जाय ॥४॥

श्री अमृतचन्द्राय नम.

"अमृतचन्द्र" से अमृत है, झरता जग अपरुप ।
पी पी मम मन मृतक भी, अमर बना सुख कूप ॥५॥

श्री ज्ञानसागराय नम.

तरणि "ज्ञानसागर" गुरो ! तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीश ॥६॥

प्रयोजन

अमृत–कलश का मैं करु, पद्यमयी अनुवाद ।
मात्र कामना मम रही, मोह मिटे परमाद ॥७॥

श्री समयसार-कलश

नम समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ।। १ ।।

अनन्तधर्मणस्तत्त्व पश्यन्ती प्रत्यगात्मन ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ।। २ ।।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषिताया. ।
मम परमविशुद्धि शुद्धचिन्मात्रमूर्त्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूते. ।। ३ ।।

उभयनयविरोधध्वसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहा. ।
सपदि समयसार ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ।। ४ ।।

व्यवहरणनय. स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्ब ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्र
परविरहितमन्त. पश्यतां नैष किञ्चित् ।। ५ ।।

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मन
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्य पृथक् ।
सम्यग्दर्शनमेतदेवनियमादात्मा च तावानय
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु न. ।। ६ ।।

* ज्ञानोदय-छन्द *

मणिमय, मनहर निज अनुभव से झग झग झग झग करती है
तमो रजो अरु सतोगुणो के गण को क्षण मे हरती है।
समय समय पर समय-सार मय चिन्मय निज ध्रुव मणिका को,
नमता मम निर्मम मस्तक, तज मृणमय जड़मय मणिका को ।। १ ।।

गाती रहती गुरु की गरिमा अगणित धारे गुण गण है,
मोह मान मद माया मद से रहित हुए है ये जिन है।
अनेकान्तमय वाणी जिनकी जीवित जग मे तव लौं हो,
रवि शशि उडगण लसते रहते विस्तृत नभ मे जव लौ हो ।। २ ।।

समय सार की व्याख्या करता, चाहू कुछ नहिं विरत रहू,
चिदानन्द का अनुभव करता निशिदिन निज मे निरत रहू।
मोह भाव मम विखर-विखर कर क्षण-क्षण कण-कण मिट जावे,
पर परिणतिका मूल यही वस मोह मूल झट कट जावे ।। ३ ।।

स्यात् पद भूपित, दूषित नहिं है जिन वच मुझे सुहाते है,
उभय-नयो के आग्रह कर्दम इकदम स्वच्छ धुलाते हैं।
जिन वच रमता, सकल मोह का मुनि वन वन मे वमन किया,
समकित अमित 'समय' लख मुनि ने शत शत वन्दन नमन किया।। ४ ।।

निर्विकल्पमय समाधि जव तक साधक मुनिगण नहिं पाते,
तव तक उनको प्रभु का आश्रय समयोचित है मुनि गाते।
निश्चय नयमय नभ मे लखते चम चम चमके चेतन ज्योत,
अन्तर्विलीन मुनिवर को पर, प्रभु आश्रय तो जुगुनू ज्योत ।। ५ ।।

विशुद्ध नय का विषय भूत उस विरागता का पूरा-पन,
पूर्ण ज्ञान का अवलोकन औ सकल सग से सूना पन।
निश्चय सम्यग्दर्शन है वह वही निजामृत है प्यारा,
वही शरण है वही शरण लू तज नव-तत्वो का भारा ।। ६ ।।

अत शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्व न मुञ्चति ।। ७ ।।

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ।। ८ ।।

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्
अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ।। ९ ।।

आत्मस्वभाव परभावभिन्न-
मापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम् ।
विलीनसकल्पविकल्पजालं-
प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ।। १० ।।

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमान समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ।। ११ ।।

भूत भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्त किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्यमोह हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुव
नित्य कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देव स्वय शाश्वत ।। १२ ।।

निर्मल निश्चय-नय का तब-तब आश्रय ऋषि अवधारत हो,
अन्तर्जगती-तल में जब तक जग मग जग मग जागृत हो ।
फलत निश्चित लगता नहीं वो मुनि के मन में मैलापन,
नव तत्वों में भला हुला हो चला न जाता उजला-पन ॥ ७ ॥

नव तत्वों में ढल कर चेतन मृण्मय तन के खानन में,
अनुमानित है चिर से जैसा कनक कनक पाषाणन में ।
वही दीखता समाधि रत को शोभित द्युतिमय शाश्वत है,
एक अकेला तन से न्यारा ललाम आतम भास्वत है ॥ ८ ॥

निजानुभव का उद्भव उसमें विराग मुनि में हुआ जभी,
भेदभाव का खेदभाव का प्रलय नियम से हुआ तभी ।
प्रमाण नय निक्षेपादिक सब पता नहीं कब मिट जाते,
उदयाचल पर अरुण उदित हो उडुगण गुप चुप छुप जाते ॥ ९ ॥

आदि रहित है मध्य रहित है अन्त रहित है अरहन्ता,
विकल्प जल्पों संकल्पों से रहित अवगुणो गुणवन्ता ।
इस विध गाता निश्चय नय है पूरण आतम प्रकटाता,
समरस रसिया ऋषि उसमें हो उदित उजाला उपजाता ॥ १० ॥

क्षणिक भाव है क्षणिक काल लौं ऊपर ऊपर दिख जाते,
तन मन वच विधि दृग चरणादिक जिसमें चिर नहिं टिक पाते ।
निजमें निज से निज को निज ही निरख निरख तू नित्यालोक,
सकल मोह तज फिर झट करले अवलोकित सब लोकालोक ॥ ११ ॥

विशुद्ध नय आश्रय से होती स्वानुभूति है कहलाती,
वही परम ज्ञानानुभूति है वाणी जिनकी बतलाती ।
जान मान कर इस विध तुमको निजमें रमना वांछित है,
निर्मल बोध निरंतर प्यारा परित- पूर्ण प्रकाशित है ॥ १२ ॥

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघन. समन्तात् ।। १३ ।।

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-
र्मह परममस्तु नः सहजमुद्विलास सदा ।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ।। १४ ।।

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभि· ।
साध्य-साधकभावेन द्विधैक. समुपास्यताम् ।। १५ ।।

दर्शन-ज्ञान-चारित्रैस्त्रित्वादेकत्वत· स्वयम् ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणत. ।। १६ ।।

दर्शन-ज्ञान-चारित्रैस्त्रिभि. परिणतत्वत· ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद्व्यवहारेण मेचकः ।। १७ ।।

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैकक· ।
सर्वभावान्तरध्वसिस्वभावत्वादमेचक· ।। १८ ।।

आत्मध्यान मे विलीन होकर मोह भाव का करे हनन,
विगत अनागत आगत विधि के बन्धन तोडे झट मुनिजन ।
शाश्वत शिव बन शिव सुख पाते लोक अग्र पर बसते हैं,
निज अनुभव मे जाने जाते कर्म–मुक्त, ध्रुव लसते हैं ।। १३ ।।

चिन्मय गुण मे परिपूरित है परम निराकुल छविवाली,
बाहर भीतर सदा एकसी लवण डली सी अति प्यारी ।
सहज स्वय बस लस लसती ललित–चेतना उजयाली,
पीने मुझको सतत मिले बस समता–रस की वह प्याली ।। १४ ।।

ज्ञान सुधा रस पूर्ण भरा है आतम नित्य निरजन है,
यदपि साध्य साधक वश द्विविधा तदपि एक मुनि रजन हैं ।
ऋद्धि सिद्धि की पूर्ण वृद्धि को यदि पाने मन मचल रहा,
स्वातम साधन करलो, करलो चचल मन को अचल अहा ।। १५ ।।

द्रव्य दृष्टि मे निरखो आतम एक एक आकार बना,
पर्यय दृष्टि बनती दिखता अनेक–नैकाकारतना ।
चचल मन मे वही उतरता विद्याद्गवत धरा हुआ,
दिखता समाधिरत मुनियो को सचमुच चिति मे भरा हुआ ।। १६ ।।

दृग–व्रत–बोधादिक मे साधक नियम रूप से ढलता है,
पल, पल, पग, पग आगे बढ़ता अविरल शिवपथ चलता है ।
एक यदपि वह तदपि इसी मे बहुविध स्वभाव धारक है,
इस विध यह व्यवहार कथन है कहते मुनि व्रत पालक है ।। १७ ।।

पूर्ण रूप मे सदा काल मे व्यक्त पूर्ण है उचित रहा,
ज्ञान–ज्योति मे विलस रहा है एक आप मे रचित रहा ।
वैकारिक–वैभाविक भावो का निज आतम नाशक है,
इसीलिये वह माना जाता एक भाव का शासक है ।। १८ ।।

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
दर्शन-ज्ञान-चारित्रै साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ।। १९ ।।

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया॰
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिन्ह
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धि॰ ।। २० ।।

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा ।
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकारा सन्तत स्युस्त एव ।। २१ ।।

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।
इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेक॰
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ।। २२ ।।

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्ते पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथ विलसन्त स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ।। २३ ।।

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दश दिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दाममहस्विना जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयो साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वरा॰ सूरय॰ ।। २४ ।।

एक स्वभावी नैक स्वभावी द्रव्य गुणो से खिलता है,
ऐसा आतम चिन्तन से वह मोक्ष धाम नही मिलता है।
समकित विद्याव्रत से मिलती मुक्ति हमे अविनश्वर है,
सच्चा साधन साध्य दिलाता इस विध कहते ईश्वर हैं॥ १९॥

रत्नत्रय मे ढली घुली पर मिली खिली इक सारा है,
धारा प्रवाह वहती रहती जीवित चेतन धारा है।
कुछ भी हो पर स्वय इसी मे अवगाहित निज करता हू,
नहि-नहि इस विन शाति, तृप्ति हो, आत्म-ताप सव हरता हू॥ २०॥

स्वपर वोध का मूल स्वानुभव जहाँ जगत प्रतिविम्वित हो,
जिन-मुनिवर को मिला स्वत या सुन गुरु वचन अशकित हो।
पर न विभावो से वे अपना कलुपित करते निजपन है,
कई वस्तुये झलक रही हैं तथापि निर्मल दर्पण है॥ २१॥

मोह मद्य का पान किया चिर अव तो तज जडमति! भाई,
ज्ञान सुधारस एक घूट लें मुनि जन को जो अति भाई।
किसी समय भी किसी तरह भी चेतन तन मे ऐक्य नही,
ऐसा निश्चय मन मे धारो, धारो मन मे दैन्य नही॥ २२॥

खेल खेलता कोतुक से भी रूचि ले अपने चिन्तन मे,
मर जा "पर कर निजानुभव कर" घडी घडी मत रच तन मे।
फलत पल मे परम पूत को द्युतिमय निज को पायेगा,
देह-नेह तज, सज-धज निजको निज से निज घर जायेगा॥ २३॥

दशो दिशाओ को है करते स्नपित सौम्य शुचि शोभा से,
शत शत सहस्र रवि शशियो को कुन्दित करते आभा से।
हित मित वच से कर्ण तृप्त हैं करते दश-शत-अठ गुण-धर,
रूप सलोना धरते, हरते जन मन जिनवर हैं मुनिवर॥ २४॥

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥ २५ ॥

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥ २६ ॥

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चयात्
नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः ।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैव भवेत्
नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः ॥ २७ ॥

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्यात्यन्तमुच्छादितायाम् ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥ २८ ॥

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः ।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥ २९ ॥

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं
चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः
शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥ ३० ॥

गोपुर नभ का चुम्बन लेता ढकती वन–छवि वसुधातल,
गहरी खाई मानो पीती निरी तलातल रासातल।
पुर वर्णन तो पुर वर्णन है पर नहि पुर पति की महिमा,
मानी जाती इसीलिये वह केवल जडमय पुर महिमा ॥ २५ ॥

अनुपम अद्भुत जिनवर मुख है रग रग मे है रूप भरा,
जय हो सागर सम गभीर शम यम दम का कूप निरा।
रूपी तन का "रूप रूप" भर तन से जिनवर है न्यारे,
इसीलिए यह तन की स्तुति है मुनिवर कहते हैं प्यारे ॥ २६ ॥

तन की स्तुति से चेतन-स्तुति की औपचारिकी कथनी है,
यथार्थ नहि तन चेतन नाता यह जिन-श्रुति, अघ–मथनी है।
चेतन स्तुति पर चेतन गुण से निर्विवाद यह निश्चित है,
अत ऐक्य तन चेतन मे वो नही सर्वथा किंचित है ॥ २७ ॥

स्वपर तत्व का परिचय पाया निश्चय नय का ले आश्रय,
जड काया से निज चेतन का ऐक्य मिटाया वन निर्भय।
स्वरस रसिक वर वोध विकासित क्या नहि उस मुनिवर मे हो,
भागा वाधक ! साधा साधक ! साध्य सिद्ध वस पल मे हो ॥ २८ ॥

सयम वाधक सकल सग को मन वच तन से त्याग दिया,
वना सुसयत, अभी नही पर प्रमत्त परमे राग किया।
तभी सुधी मे निजानुभव का उद्भव होना सभव है,
पर भावो से रहित परिणती अविरत मे ना सभव है ॥ २९ ॥

सरस स्वरस परिपूरित परित सहज स्वय शुचि चेतन का,
अनुभव करता मन हर्षाता अनुपम शिव सुख केतन का।
अत नही है कभी नही है मान मोह–मद कुछ मेरा,
चिदानन्द का अमिट धाम हू द्वैत नही अद्वैत अकेला ॥ ३० ॥

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तै
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्त. ।। ३१ ।।

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ता. ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणी भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धु· ।। ३२ ।।

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदा-
नाससारनिबद्धबन्धनविधिध्वसाद्विशुद्ध स्फुटत् ।
आत्माराममनन्तधाम महसाध्यक्षेण नित्योदित
धीरोदात्तमनाकुल विलसति ज्ञान मनो ह्लादयत् ।। ३३ ।।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृत. सन् पश्य षण्मासमेकम् ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धि. ।। ३४ ।।

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ता सर्वेऽपि भावा· पौद्गलिका अमी ।। ३५ ।।

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्त
स्फुटतरमवगाह्य स्व च चिच्छक्तिमात्रम् ।
इममुपरि चरन्त चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मयात्मानमात्मन्यनन्तम् ।। ३६ ।।

राग द्वेष से दोष कोप से सुदूर शुचि उपयोग रहा,
शुद्धातम को सतत अकेला बिना थके बस भोग रहा।
निश्चय रत्नत्रय का वाना, धरता नित अभिराम रहा,
विराम-आतम उपवन मे ही करता आठो याम रहा।। ३१ ।।

परम शान्त रस से पूरित वह बोध सिन्धु बस है जिनमे,
उज्ज्वल उज्ज्वल उछल रहा है पूर्ण रूप से त्रिभुवन में।
भ्रम विभ्रम नाशक है प्यारा इसमे अवगाहन करलो,
मोह ताप संतप्त हुए हो हृदय ताप को तुम हरलो।। ३२ ।।

भव वन्धन के हेतु भूत सब कर्म मिटाकर हर्षाता,
जीव देहगत भेद भिन्तता भविजन को है दर्शाता ।
चपल पराश्रित आकुल नहि पर उदार धृति धर गत आकुल,
हरा भरा निज उपवन मे नित ज्ञान खेलता सुख सकुल ।। ३३ ।।

राग रंग से अंग अंग से शीघ्र दूर कर वच तन रे!
सार हीन उन जग कार्यों मे विराम ले अब अयि! मन रे!
मानस-सरमें एक स्वयं को मात्र मास छह देख जरा,
जड से न्यारा सबसे प्यारा शिवपुर दिखता एक खरा।। ३४ ।।

तन मन वच से पूर्ण यत्न से चेतन का आधार धरो,
सवेदन मे शून्य जडो का अदय बनो संहार करो ।
आप आप का अनुभव करलो अपने मे ही आप जरा,
अखिल विश्व मे सर्वोपरि है अनुपम अव्यय आतमखरा।। ३५ ।।

विश्वसार है सर्वसार है समयसार का सार सुधा,
चेतन रस आपूरित आतम शत शत वन्दन वार सदा।
असार-मय ससार क्षेत्र में निज चेतन से रहे परे,
पदार्थ जो भी जहा तहां है मुझ से पर हैं निरे निरे।। ३६ ।।

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ।। ३७ ।।

निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्च-
त्तदेव तत्स्यान्न कथं च नान्यत् ।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं
पश्यन्ति रुक्म न कथञ्चनासिम् ।। ३८ ।।

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु
निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा
यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ।। ३९ ।।

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीवो जल्पनेऽपि न तन्मयः ।। ४० ।।

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ।। ४१ ।।

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यताम् ।। ४२ ।।

वर्णादिक औ रागादिक ये पर हैं पर से हैं उपजे,
समाधि रत को केवल दिखते सदा पुरुष जो शुद्ध सजे,
लहरे सर मे उठती रहती झिलमिल झिलमिल करती हैं,
अन्दर तल मे मौन–छटा पर निश्चित मुनि मन हरती हैं ।। ३७ ।।

जग मे जब जब जिसमे जो जो जन्मत हैं कुछ पर्यायें ।
वे वे उसकी निश्चित होती समझ छोड दो शकाये ।
वना हुआ जो काचन का है सुन्दरतम असि कोष रहा,
विज्ञ उसे काचनमय लखते, कभी न असि को, होप रहा ।। ३८ ।।

वर्णादिक हैं रागादिक हैं गुणस्थान की हैं सरणी,
वह सब रचना पुद्गल की है जिन–श्रुति कहती भवहरणी ।
इसीलिए ये रागादिक हैं मल हैं केवल पुद्गल हैं,
शुद्धात्मा तो जड से न्यारा ज्ञान पुज है निर्मल है ।। ३९ ।।

मृण्मय घटिका यदपि तदपि वह घृत की घटिका कहलाती,
घृत संगम को पाकर भी पर घृतमय वह नहिं वन पाती ।
वर्णादिक को रागादिक को तन मन आदिक को ढोता,
सत्य किन्तु यह, यह भी निश्चित तन्मय आत्मा नहिं होता ।। ४० ।।

आदि हीन है अन्तहीन है अचल अडिग है अचल वना,
आप आप से जाना जाना प्रकट रूप से अमल तना ।
स्वयं जीव ही सहज रूप से चम चम चमके चेतन है,
समयसार का विश्व सार का शुचिमय शिव का केतन है ।। ४१ ।।

वर्णादिक से रहित सहित हैं धर्मादिक हैं ये पुद्गल,
प्रभु ने अजीव द्विधा वताया जिनका निर्मल अन्तस्तल ।
अमूर्तता की स्तुति करता पर जड़ आतम ना लख पाता,
चिन्मय चितिपण अचल अत है आतम लक्षण चख ! साता ।। ४२ ।।

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम् ।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ।। ४३ ।।

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ।। ४४ ।।

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ।। ४५ ।।

निरा जीव है अजीव न्यारा अपने अपने लक्षण से,
अनुभवता ऋषि जैसा हसा जल जल पय पय तत् क्षण से ।
फिर भी जिसके जीवन मे हा ! सघन मोह तम फैला है,
भाग्यहीन वह कुधी भटकता भव-वन मे न उजेला है ।। ४३ ।।

वोध-हीन उस रग मच पर सुचिर काल से त्रिभुवन मे,
रागी द्वैषी जड ही दिखता रस लेता नित नर्तन मे ।
वीत राग है वीत दोष हैं जड से सदा-विलक्षण है,
शुद्धात्मा तो शुद्धात्मा है चेतन जिसका लक्षण है ।। ४४ ।।

चेतन तन से भिन्न भिन्न नहि पूर्ण रूप से हो जव लौं,
कर, कर, कर, कर रहो चलाते आरा ज्ञानमयी तव लौ ।
तीन लोक को विषय वनाता ज्ञाता दृष्टा निज आतम,
पूरण विकसित चिन्मय वल से निर्मलतम हो परमातम ।। ४५ ।।

जीवाजीवाधिकार समाप्त

दोहा

रग रग मे चिति रस भरा खरा निरा यह जीव ।
तन धारी दुख सहत, सुख तन विन सिद्ध सदीव ।। १ ।।

प्रीति भीति सुख दुखन से धरे न चेतन-रीति ।
अजीव तन धन आदि ये तुम समझो भव भीत ।। २ ।।

कर्ता कर्म अधिकार

एक कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
इत्यज्ञाना शमयदभित· कर्तृकर्मप्रवृत्तिम् ।
ज्ञानज्योवि स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीर
साक्षात्कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ।। ४६ ।

परपरिणतिमुज्झत् खण्डयद्भेदवादा-
निदमुदितमखण्ड ज्ञानमुच्चण्डमुच्चै ।
ननु कथमवकाश कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गल· कर्मबन्ध ।। ४७ ।।

इत्येव विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्ति परां
स्व विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नु वान परम् ।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्त स्वय
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगत साक्षी पुराण· पुमान् ।। ४८ ।

व्याप्य-व्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्य-व्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृ-कर्मस्थिति· ।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण भिन्दँस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसित कर्तृत्वशून्य पुमान् ।। ४९ ।।

ज्ञानी जानन्नपीमा स्वपरपरणति पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्त कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात् ।
अज्ञानात्कर्तृ-कर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न याव-
द्विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवदय भेदमुत्पाद्य सद्य ।। ५० ।।

अथ कर्तकर्माधिकारः

चेतन कर्ता मैं क्रोधादिक कर्म रहे मम "जड" गाता,
उसके कर्तृ कर्मपन को जो शीघ्र नष्ट है कर पाता।
लोकालोका-लोकित करता ज्ञान भानु द्युति पुंज रहा,
निर्विकार है, निजाधीन है, दीन नही दृग मंजु रहा ॥ ४६ ॥

पर परिणति को भेदभाव को विभाव भावो विदारता,
ज्ञानदिवाकर उदित हुआ हो समकित किरणे सुधारता।
कर्तापन तम कुकर्मपनतम फिर क्या वप रह पायेगा ?
विधि बन्धन का गीत पुराना पुद्गल अब ना गायेगा ॥ ४७ ॥

जडमय पुद्गल परपरिणति से पूर्ण रूप से विरत बना,
निश्चय निर्भय बन कर मुनि जब सहज ज्ञान मे निरत तना,
ऊपर उठ सुख दुख मे तजता कर्ता कुकर्म-कारणता,
ज्ञाता दृष्टा साक्षी जग का पुराण पुरुषोतम बनता ॥ ४८ ॥

व्याप्यपना औ व्यापकता वह परमे नहि निज द्रव्यन मे,
व्याप्य और व्यापकता विन नहि कृतकर्म पर-जीवन मे।
बार बार मुनि विचार इस विध करें सदा वे जगा विवेक,
पर कर्तापन तजते लसते अन्धकार का भगाऽतिरेक ॥ ४९ ॥

ज्ञानी निज पर परिणति लखता पर नही पुद्गल है,
निरे निरे है अत परस्पर मिले न चेतन पुद्गल है।
जड चेतन मे कर्तृ कर्म का भ्रम धारे जड शठ तब लौं,
आरे सम निर्दय बन काटत बोध उन्हे नहि झट जब लौं ॥ ५० ॥

य परिणमति स कर्ता य परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणति क्रिया सा त्रयमपि भिन्न न वस्तुतया ।। ५१ ।।

एक परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यत. ।। ५२ ।।

नोभौ परिणमत खलु परिणामो नोभयो' प्रजायेत ।
उभयोर्न परिणति स्याद्यदनेकमनेकमेव स्यात् ।। ५३ ।।

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेक यतो न स्यात् ।। ५४ ।।

आ ससारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
र्दुवार ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपं तम ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलय यद्येकवार व्रजेत्
तत्कि ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मन. ।। ५५ ।।

आत्मभावान् करोत्यात्मा परभावान् सदा पर. ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावा परस्य परस्य पर एव ते ।। ५६ ।।

स्वतंत्र होकर परिणमता है होता स्वतंत्र कर्ता है,
उसका जो परिणाम कर्म है कहते जिन, विधि हर्ता है।
जो भी होती परिणति अविरल पदार्थ मे है वही क्रिया,
वैसे तीनो एकमेक हैं यथार्थ से मुन सही जिया। ॥ ५१ ॥

सतत एक ही परिणमति है इक का इक परिणाम रहा,
इक की परिणति होती है यह वस्तु-तत्व अभिराम रहा।
इस विध अनेक होकर के भी वस्तु एक ही भाती है,
निर्मल-गुण धारक-जिनवर की वाणी इस विध गाती है ॥ ५२ ॥

कदापि मिलकर परिणमते नहि, दो पदार्थ नहि, सभव हो,
तथा एक परिणाम न भाता दो पदार्थ मे उद्भव हो।
उभय-वस्तु मे उसी तरह ही कभी न परिणति इक होती,
भिन्न-भिन्न जो अनेक रहती एकमेक ना, इक होती ॥ ५३ ॥

एक वस्तु के कर्ता दो नहि इसविध मुनिगण गाते हैं,
एक वस्तु के कर्म कभी भी दो नहि पाये जाते हैं।
एक वस्तु की परिणितिया भी दो नहि कदापि होती है,
एक एक ही रहती सचमुच अनेक नहि नहि होती हैं ॥ ५४ ॥

भव भव भव-वन भ्रमता भ्रमता जीव भ्रमित हो यह मोही,
पर कर्तापन वश दुख सहता-मदतम-तम मे निज द्रोही।
वीतरागमय निश्चय धारे एक वार यदि द्युति शाला,
फैले फलत. प्रकाश परित कर्म वन्ध पुनि नहि खारा ॥ ५५ ॥

पूर्ण सत्य है आतम करता अपने अपने भावो को,
पर भी करता पर भावो पर, पर ना आतम भावो को।
सचमुच सब कुछ परका पर है आतम का बस आतम है,
जीवन भी सजीवन पीवन[1] आतम ही परमातम है ॥ ५६ ॥

---

१ पीवन-पेय

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते य: ।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम् ।। ५७ ।।

अज्ञानात् मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जना. ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिव-
च्छुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः ।। ५८ ।।

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाः पयसोर्विशेषं ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ।। ५९ ।।

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ।। ६० ।।

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा ।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ।। ६१ ।।

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ।। ६२ ।।

विज्ञा होकर अज्ञ बनी तू पर पुद्गल में रमती है,
गज सम गन्ना खाती पर, ना तृण को तजती भ्रमती है।
मिश्री मिश्रित दधि को पी पी पीने पुनि मति ! मचल रही,
रसानभिज्ञा पय को पीने गो दोहत भी विफल रही ॥ ५७ ॥

रस्सी को लख सर्प ससञ्ज जन निशि में भ्रम से डर जाते,
जल लख मृग, मृगमरीचिका में पीने भगते, मर जाते।
पवनाहत सर सम लहराता विकल्प जल्पों का भर्ता,
यदपि ज्ञान घन व्याकुल बनता तदपि भूल में पर कर्ता ॥ ५८ ॥

सहज ज्ञान में स्वपर भेद को परम हंस यह मुनि लेता,
दूध दूध को नीर नीर को जैसा हंसा लख लेता।
केवल अलोल चेतन गुण को अपना विषय बनाता है,
कुछ भी फिर ना करता मुनि बन मुनिपन यही निभाता है ॥ ५९ ॥

शीतल जल है अनल उष्ण है ज्ञान कराता यह निश्चय,
है अथवा ना लवण अन्न में ज्ञान कराता यह निश्चय।
सरस स्वरस परिपूरित चेतन क्रोधादिक में रहित रहा,
यह भी अवगम, मिटा कर्तृपन ज्ञान मूल हो उदित अहा ॥ ६० ॥

मूढ कुधी या पूर्ण सुधी भी निज को आतम करता है,
सदा सर्वथा शोभित होता वरे ज्ञान की स्थिरता है।
स्वभाव हो या विभाव हो पर कर्ता अपने भावों का,
परन्तु कदापि आतम नहिं है कर्ता परके भावों का ॥ ६१ ॥

आतम लक्षण ज्ञान मात्र है स्वयं ज्ञान ही आतम है,
किस विध फिर वह ज्ञान छोडकर पर को करता आतम है।
पर भावों का आतम कर्ता इस विध कहते व्यवहारी,
मोह मद्य का सेवन करते भ्रमते फिरते भव-धारी ॥ ६२ ॥

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव ।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय
सङ्कीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्म कर्तृ ॥ ६३ ॥

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य
स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥ ६४ ॥

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया
स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यं स्वस्य तस्यैव भवेत् स कर्ता ॥ ६५ ॥

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः ।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥ ६६ ॥

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥ ६७ ॥

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाः ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥ ६८ ॥

चेतन आतम यदि जड कर्मो को करने मे मौन रहे
फिर इन पुद्गल कर्मो के हैं कर्ता निश्चित कौन रहे।
इसी मोह के तीव्र वेग के क्षयार्थ आगम गाता है,
पुद्गल, पुद्गल-कर्मो का कर्ता जड से जड़का नाता है ॥ ६३ ॥

स्वभाव भूता परिणति है यह पुद्गल की वन जात हुई,
रही अत ना कुछ भी वाधा प्रमाणता की वात हुई।
जव जव इस विध निज मे जड है विभाव आदिक करे वही,
तव तव उनका कर्ता होना जिन श्रुति आशय धरे, यही ॥ ६४ ॥

स्वभाव भूता परिणति यह है चेतन की वस जात हुई,
रही अत ना कुछ भी वाधा प्रमाणता की वात हुई।
जव जव इस विध निज मे चेतन विभाव आदिक करे वही
तव तव उनका कर्ता होता जिन श्रुति आशय धरे यही ॥ ६५ ॥

विमल ज्ञान रस पूरित होते ज्ञानी मुनि का आशय है,
ऐसा कारण कौन रहा है क्यो ना हो अघ आलय है।
अज्ञानी के सकल-भाव तो मूडपने मे रजित हो,
क्यो ना होते गत मल निर्मल ज्ञान पने से वचित हो ॥ ६६ ॥

राग रग सव तजते नियमित ज्ञानी मुनि-ले निज आश्रय,
अत ज्ञान जल सिंचित सव ही भाव उन्ही के हो, भा-मय।
राग रंग मे अग सग मे निरत अत वे अज्ञानी,
मूढ पने के भाव सुधारे कलुषित पकिल ज्यो पानी ॥ ६७ ॥

निर्विकल्प मय समाधि गिरि से गिरता मुनि जव अज्ञानी,
प्रमत्त वन अज्ञान भाव को करता क्रमश नादानी।
विकृत विकल्पो विभाव भावो को करता तव निश्चित है,
द्रव्य कर्म के निमित्त कारण जो है सुख से वचित है ॥ ६८ ॥

य एव मुक्त्वा नयपक्षपात
स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्ता-
स्त एव साक्षादमृत पिबन्ति ।। ६९ ।।

एकस्य बद्धो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ।। ७० ।।

एकस्य मूढो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ।। ७१ ।।

एकस्य रक्तो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ७२ ।।

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ।। ७३ ।।

एकस्य कर्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ।। ७४ ।।

कुनय सुनय के पक्षपात से पूर्ण रूप से विमुख हुए,
निज मे गुप लुप छुपे हुए हैं निजके सम्मुख प्रमुख हुए।
विकल्प जल्पो रहित हुए हैं प्रशान्त मानस धरते हैं,
नियम रूप से निशिदिन मुनि-"निज अमृत पान" वे करते हैं॥ ६९॥

इक नय कहता जीव बधा है, इक नय कहता नही बधा,
पक्षपात की यह सब महिमा दुखी जगत है तभी सदा।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥ ७०॥

भिन्न भिन्न नय क्रमश कहते आत्मा मोही निर्मोही,
इस विध दृढतम करते रहते अपने अपने मत को ही।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥ ७१॥

इक नय मत है आत्मा रागी इक कहता है गत रागी,
पक्षपात की निशा यही है केवल ज्योत न वो जागी।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल-केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥ ७२॥

इक नय कहता आत्मा द्वेषी इक कहता है ना द्वेषी,
पक्षपात को रखने वाली सुख दात्री मति हो कैसी?
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥ ७३॥

इक नय रोता आत्मा कर्ता कर्त्ता नहिं है इक गाता,
पक्षपात से सुख नहिं मिलता पक्षपात की यह गाथा।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥ ७४॥

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ।। ७५ ।।

एकस्य जीवो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ।। ७६ ।।

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ।। ७७ ।।

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ७८ ।।

एकस्य कार्यं न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ।। ७९ ।।

एकस्य भावो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ।। ८० ।।

इक नय कहता आत्मा भोक्ता भोक्ता नहिं है इक कहता,
पक्षपात का प्रवाह जड मे अविरल देखो वह वहता।
पक्षपात से रहित वना है मुनि–मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध–ज्ञान–घन केवल चेतन चेतन है ॥ ७५ ॥

इक नय मत मे जीव रहा है, इक कहता है जीव नही,
पक्षपात से घिरा हुवा मन ! सुख पाता नहिं जीव वही।
पक्षपात से रहित वना है मुनि–मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध–ज्ञान–घन केवल चेतन चेतन है ॥ ७६ ॥

जीव सूक्ष्म है सूक्ष्म नही है भिन्न भिन्न नय कहते हैं,
इस विध पक्षपात से जड जन भव भव मे दु ख सहते है।
पक्षपात से रहित वना है मुनि–मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध–ज्ञान–घन केवल चेतन चेतन है ॥ ७७ ॥

इक नय कहता जीव हेतु है हेतु नही है इक गाता,
इस विध पक्षपात कर मन है वस्तु तत्व को नहि पाता।
पक्षपात से रहित वना है मुनि–मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध–ज्ञान–घन केवल चेतन चेतन है ॥ ७८ ॥

जीव कार्य है कार्य नही है भिन्न भिन्न नय कहते,
इस विध पक्षपात जड करते परम तत्व को नहिं गहते।
पक्षपात मे रहित वना है, मुनि–मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध–ज्ञान–घन केवल चेतन चेतन है ॥ ७९ ॥

इक नय कहता जीव भाव है, भाव नही है इक कहता,
इस विध पक्षपात कर मन है वस्तु तत्व को नहि गहता।
पक्षपात से रहित वना है, मुनि–मन–निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान–घन केवल चेतन चेतन है ॥ ८० ॥

एकस्य चैको न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८१ ।।

एकस्य सांतो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८२ ।।

एकस्य नित्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ।। ८३ ।।

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ।। ८४ ।।

एकस्य नाना न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ।। ८५ ।।

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८६ ।।

एक अपेक्षा जीव एक है एक अपेक्षा एक नही,
ऐसा चिंतन जड जन करते दुखी हुए हैं देख यही।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है।। ८१ ।।

जीव सान्त है सान्त नहीं है इस विध दो नय हैं कहते,
ऐसा चिंतन जड जन करते पक्षपात कर दु ख सहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ।। ८२ ।।

जीव नित्य है नित्य नही है भिन्न भिन्न नय दो कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है पक्षपात को जड गहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है।। ८३ ।।

अवाच्य आत्मा वाच्य रहा है, भिन्न भिन्न नय हैं कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड जन दु ख सहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ।। ८४ ।।

इक नय कहता आतमा नाना, नाना, ना है इक कहता,
इस विध चिंतन पक्षपात है करता यदि तू दुख सहता।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ।। ८५ ।।

जीव ज्ञेय है ज्ञेय नही है भिन्न भिन्न नय हैं कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड जन दुख सहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ।। ८६ ।।

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥ ८७ ॥

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥ ८८ ॥

एकस्य भातो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८९ ॥

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेव व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अन्तर्बहि समरसैकरसस्वभाव
स्व भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥ ९० ॥

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥ ९१ ॥

चित्स्वभावभरभावितभावा-
भावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्ता
चेतये समयसारमपारम् ॥ ९२ ॥

जीव दृश्य है जीव दृश्य नहि भिन्न भिन्न नय है कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड जन दुख सहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥ ८७॥

जीव वेद्य है वेद्य जीव नहि भिन्न भिन्न नय है कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड जन दुख सहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥ ८८॥

जीव आज भी प्रकट स्पष्ट है प्रकट नही दो नय गाते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड जन दुख पाते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥ ८९॥

पक्षपात-मय-नय वन जिसने सुदूर पीछे छोड दिया,
विविध विकल्पो जल्पो से वस चचल मन को मोड दिया।
बाहर भीतर समरस इक रस महक रहा है, अपने को,
अनुभवता मुनि मूर्त्तरूप से स्वानुभूति के सपने को॥ ९०॥

रग विरगे तरल तरगे क्षण रुचि मम झट उठ मिटती,
विविध नयो की विकल्प माला मानस तल मे नहि उठती।
शतशत सहस्र किरण सग ले झग झग करता जग जाता,
निजानुभव के बल मम चेतन भ्रम-तम लगभग भग जाता॥ ९१॥

स्वभाव भावो विभाव भावो भावा भावो रहित रहा,
केवल निर्मल चेतनता से खचित रहा है भरित रहा।
उसी सारमय समयसार को अनुभवता कर वन्दन मैं,
विविध विधी के प्रथम तोड के तड तड तड तड वन्धन मैं॥ ९२॥

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो य समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमान. स्वयम् ।
विज्ञानैकरस. स एष भगवान्पुण्य पुराण पुमान्
ज्ञान दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ॥ ९३ ॥

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघ बलात् ।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्
आत्मान्येव सदा गतानुगततामायात्यय तोयवत् ॥ ९४ ॥

विकल्पक. परं कर्ता विकल्प कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्व सविकल्पस्य नश्यति ॥ ९५ ॥

य करोति स करोति केवलं
यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम् ।
य करोति न हि वेत्ति स क्वचित्
यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥ ९६ ॥

ज्ञप्ति· करोतौ न हि भासतेऽन्त.
ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्त ।
ज्ञप्ति करोतिश्च ततो विभिन्ने
ज्ञाता न कर्तेति तत स्थित च ॥ ९७ ॥

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
द्वन्द्व विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थिति ।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम् ॥ ९८ ॥

निर्भय निश्चल निरीह मुनि जब पक्षपात बिन जीता है,
समरस पूरित समय सार को सहर्ष सविनय पीता है।
पुण्य पुरुष है परम पुरुष है पुराण पावन भगवन्ता,
ज्ञान वही हैं दर्शन भी है सब कुछ वह जिन अरहन्ता ॥ ९३ ॥

विकल्प मय घन कानन मे चिर भटका था वह धूमिल था,
मुनि का विबोधरस निज घर मे विवेक पथ से आ मिलता।
खुद ही भटका खुद ही आत्मा लौटा निज मे घुल जाता,
फैला जल भी निचली गति से वह वह पुनि वह मिल जाता ॥ ९४ ॥

विकल्प करने वाला आत्मा कर्ता यथार्थ कहलाता,
विकल्प जो भी उर मे उठता कर्म नाम वह है पाता।
जब तक जिसका विकल्प दल से मानस तल वो भूषित है,
तब तक कर्तृ-कर्म-पन मल से जीवन उसका दूषित है ॥ ९५ ॥

विराग यति का कार्य स्वय को केवल लखना लखना है,
रागी जिसका कार्य, कर्म को केवल करना करना है।
सुधी जानता इसीलिए मुनि कदापि विधि को नहिं करता,
कुधी जानता कभी नही है चू कि निरतर विधि करता ॥ ९६ ॥

ज्ञप्ति क्रिया मे शोभित होती कदापि करोति क्रिया नही,
उसी तरह बस करण-क्रिया मे ज्ञप्ति क्रिया वह जिया ! नही।
करण क्रिया औ ज्ञप्ति क्रिया ये भिन्न-भिन्न है अत यदा,
ज्ञाता कर्ता भिन्न-भिन्न ही सुसिद्ध होते स्वत सदा ॥ ९७ ॥

कर्म न यथार्थ कर्ता मे हो नही कर्म मे कर्ता हो,
हुए निराकृत जब ये दो, क्या कर्तृ-कर्मपन सत्ता हो ?
ज्ञान ज्ञान मे कर्म कर्म मे अटल सत्य बस रहा यही,
खेद ! मोह नेपथ्य किन्तु ना तजता, नाचत रहा वही ॥ ९८ ॥

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञान भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमतस्तथोक्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ।। ९९ ।।

चिन्मय द्युति से अचल उजलती ज्ञान ज्योति जब जग जाती,
मुनिवर अन्तर्जगतीतल को परित उज्ज्वल कर पाती।
ज्ञान ज्ञान तब केवल रहता, रहता पुद्‌गल पुद्‌गल है,
ज्ञान कर्म का कर्ता नहिं है, ढले न विधि में पुद्‌गल है ॥ ६६ ॥

इति कर्तृकर्माधिकार समाप्त

दोहा

निज गुण कर्ता आतम है पर कर्ता पर आप।
इस विध जाने मुनि सभी निज-रत हो तज पाप ॥ १ ॥

प्रमाद जब तक तुम करो पर-कर्तापन मान।
तब तक विधि बन्धान हो हो न "समय" का ज्ञान ॥ २ ॥

पुण्य-पाप-अधिकार

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो
द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अय
स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लव· ।। १०० ।।

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्य. शूद्रः स्वयमहमिति-स्नाति-नित्यं तयैव ।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ।। १०१ ।।

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणा
सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेद. ।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्ट
स्वय समस्त खलु बन्धहेतु ।। १०२ ।।

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्
बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात्
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्ध
ज्ञानमेव विहित शिवहेतु ।। १०३ ।।

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनय. सत्यशरणा. ।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषा हि शरणं
स्वयं विन्दन्त्येते परमममृत तत्र निरता. ।। १०४ ।।

अथ पुण्य-पाप-अधिकार

भेद शुभा-शुभ मिस से द्विविधा विधि है स्वीकृत यदपि रहा,
उसको लखता निज अतिशय से वोध "एक विध" तदपि रहा।
शरद चन्द्र सम वोध चन्द्रमा निर्मल निश्चल मुदित हुआ,
मोह महा तम दूर हटाता सहज स्वय अव उदित हुआ ।।१००।।

ब्राह्मणता के मद वश इक है मदिरादिक से वच जीता,
स्वय शूद्र हू इस विध कहता मदिरा प्रतिदिन इक पीता।
यद्यपि दोनो शूद्र रहे हैं युगपत् शूद्री से उपजे,
किन्तु जाति भ्रम वश ही इस विध जीवन अपने हैं समझे ।।१०१।।

कर्म हेतु है पुद्गल—आश्रय पुद्गल, स्वभाव फल पुद्गल,
अत कर्म मे भेद नही है अभेद नय से सव पुद्गल ।
और शुभा-शुभ वन्ध अपेक्षा एक इष्ट है वन्धन है,
अत कर्म है एक नियम से कहते जिन मुनि—रजन हैं ।।१०२।।

कर्म अशुभ हो अथवा शुभ हो भव वन्धन का साधक है,
मोक्ष मार्ग मे इसीलिए वह साधक नहि है बाधक है।
किन्तु ज्ञान निज विराग, शिवका साधक है दुख हारक है,
वीतराग सर्वज्ञहितकर कहते शिव—सुख साधक हैं ।।१०३।।

पूर्ण शुभा शुभ करणी तज, वन निष्क्रिय, निजमे निरत रहे,
मुनिगण अशरण नहि पर सशरण अविरत से वेविरत रहे।
ज्ञान ज्ञान मे घुल मिल जाना मुनि की परम शरण वस है,
निशि दिन सेवन करते रहते तभी सुधामय निज रस हैं ।।१०४।।

यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं
शिवस्याय हेतु. स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।
अतोऽन्यद्बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्
ततो ज्ञानात्मत्व भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥ १०५ ॥

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवन सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत ॥ १०६ ॥

वृत्त कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवन न हि ।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥ १०७ ॥

मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च ।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥ १०८ ॥

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
सन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरस ज्ञान स्वय धावति ॥ १०९ ॥

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यड् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षति ।
किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परम ज्ञान विमुक्त स्वतः ॥ ११० ॥

अमिट अतुल है अनुपम आतम ज्ञान-धाम वह सचमुच है,
मोक्ष मार्ग है मोक्ष धाम है स्वय ज्ञान ही सब कुछ है।
उससे न्यारा सारा खारा बन्ध हेतु है बन्धन है,
ज्ञान-लीनता वही स्वानुभव शिवपथ उसको वन्दन है ।।१०५।।

ज्ञान ज्ञान मे स्थित हो जाता अन्य द्रव्य मे नहि भ्रमता,
वही ज्ञान का ज्ञानपना है जिसको यह मुनि नित नमता।
आतम द्रव्य के आश्रित वह है, आश्रय जिसका आतम है,
मोक्ष मार्ग तो वही ज्ञान है, कहते जिन परमातम है ।।१०६।।

कर्म मोक्ष का नियम रूप से, हो नहि सकता कारण है,
स्वय बन्धमय कर्म रहा है भवबधन का कारण है।
तथा मोक्ष के साधन का भी अवरोधक औ नाशक है,
अत यहा पर निषेध उसका करते जिन, मुनि शासक है ।।१०७।।

कर्म रूप मे यदि ढलता है मनो ज्ञान वह भूल अहा!
ज्ञान ज्ञान नहि हो मकता वो ज्ञानपने से दूर रहा।
पुद्गल आश्रित कर्म रहा है मृण्मय मूर्त अचेतन है,
अत कर्म नहि मोक्ष हेतु नहि-हो सकता सुख केतन है ।।१०८।।

मोक्षार्थी को मोक्ष मार्ग मे कर्म त्याज्य जड पुद्गल है,
पाप रहो या पुण्य रहो फिर सब कुछ कदर्म दलदल है।
दृग व्रत आदिक निजपन मे दल मोक्ष हेतु तब बन जाते,
निष्क्रिय विबोध रस झरता, मुनि स्वय सुखी तब बन पाते ।।१०९।।

कर्ता नहि पर मोह उदय वह होता मुनि मे जब तक है,
समीचीन नहि ज्ञान कहाता अबुद्धि पूर्वक तब तक है।
सराग मिश्रित ज्ञान सुधारा बहती समाधिरत मुनि मे,
राग बध का, ज्ञान मोक्ष का कारण हो भय कुछ नहि पै ।।११०।।

मग्ना कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यन्
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमा ।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सतत ज्ञान भवन्त स्वय
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वश यान्ति प्रमादस्य च ।। १११ ।।

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोह
मूलोन्मूल सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि
ज्ञानज्योति कवलिततम. प्रोज्जजृम्भे भरेण ।। ११२ ।।

ज्ञान विना रट निश्चय निश्चय निश्चयवादी भी डूबे,
क्रिया कलापी भी ये डूबे डूबे सयम मे—ऊबे ।
प्रमत्त बन के कर्म न करते अकम्प निश्चल शैल रहे,
आत्म–ध्यान मे लीन किन्तु मुनि तीन लोक पे तैर रहे ।।१११।।

भ्रमवश विधि मे प्रभेद करता मोह मद्य पी नाच रहा,
राग–भाव जो जड़मय जड से निज बल से झट काट अहा ।
सहज मुदित शुचि कला संगले केली अव प्रारम्भ किया,
भ्रम-तम-तम को पूर्ण मिटाकर पूर्ण ज्ञान शशि जन्म लिया ।।११२।।

इति पुण्यपापाधिकार

दोहा

विभाव परिणति यह सभी पुण्य रहो या पाप ।
स्वभाव मिलता, जब मिटे पाप–पुण्य परिताप ।। १ ।।

पाप प्रथम मिटता प्रथम, तजो पुण्य-फल भोग ।
पुन. पुण्य मिटता, वरो आतम–निर्मल योग ।। २ ।।

आस्रव-अधिकार

अथ महामदनिर्भरमन्थर
समररङ्गपरागतमास्रवम् ।
अयमुदारगभीरमहोदयो
जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ।। ११३ ।।

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो
जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव ।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान्
एषोऽभाव सर्वभावास्रवाणाम् ।। ११४ ।।

भावास्रवाभावमय प्रपन्नो
द्रव्यास्रवेभ्य स्वत एव भिन्न ।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयकभावो
निरास्रवो ज्ञायक एक एव ।। ११५ ।।

सन्नयस्यन्निजवुद्धिपूर्वमनिश राग समग्र स्वयं
वारवारमवुद्धिपूर्वमपि त जेतु स्वशक्ति स्पृशन् ।
उच्छिन्दन्परवृत्तिमेव सकला ज्ञानस्य पूर्णो भवन
आत्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ।।११६।।

सर्वस्यामेव जीवन्त्या द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मति· ।। ११७ ।।

आस्रव-अधिकार

आस्रव भट झट कूद पडा है क्रुद्ध हुआ है अब रण मे,
महा मान का रस वह जिसके भरा हुआ है तन मन मे ।
ज्ञान मल्ल भी धनुष्य धारी उस पर टूटा धृति-धर है,
क्षण मे आस्रव जीत विजेता यह-बल धारी सुखकर है ।।११३।।

राग रोष से मोह द्रोह से विरहित आतम भाव सही,
ज्ञान सुधा से रचा हुवा है जिन आगम का भाव यही ।
नियम रूप से अभाव मय है भावास्रव का रहा वही,
तथा निवारक निमित्त से है द्रव्यास्रव का रहा सही ।।११४।।

भावास्रव के अभावपन पा व्रती विरागी वह ज्ञानी,
द्रव्यास्रव से पृथक रहा हू वन के जाना मुनि ध्यानी ।
ज्ञान भाव का केवल धारी ज्ञानी निश्चित वही रहा,
निरास्रवी है सदा निराला जड के ज्ञायक सही रहा ।।११५।।

सुवद्धि पूर्वक सकल राग से होते प्रथम अछूते हैं,
अवुद्धि पूर्वक राग मिटाने बार बार निज-छूते हैं ।
यमी ज्ञान की चचलता को तभी पूर्णत अहो मिटा,
निरास्रवी वे केवल ज्ञानी बनते निज मे स्वको बिठा ।।११६।।

जिसके जीवन मे वह अविरल दुरित दु खमय जल भरिता,
जडमय पुद्गल द्रव्यास्रव की बहती रहती नित सरिता ।
फिर भी ज्ञानी निरास्रवी वह कैसे इस विध हो कहते,
ऐसी शका मन मे केवल शठजन भ्रमवश हो गहते ।।११७।।

विजहति न हि सत्तां प्रत्यया. पूर्वबद्धा
समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपा' ।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिन कर्मबन्ध ।। ११८ ।।

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसम्भव ।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ।। ११९ ।।

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न-
मैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते ।
रागादिमुक्तमनस. सतत भवन्त.
पश्यन्ति बन्धविधुर समयस्य सारम् ।। १२० ।।

प्रच्युत्य शुद्धनयत पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधा ।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवै कृतविचित्रविकल्पजालम् ।। १२१ ।।

इदमेवात्र तात्पर्यं हेय. शुद्धनयो न हि ।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्यागाद्बन्ध एव हि ।। १२२ ।।

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन्धृति
त्याज्य शुद्धनयो न जातु कृतिभि. सर्वकष' कर्मणाम् ।
तत्रस्था स्वमरीचिचक्रमचिरात्सहृत्य निर्यद्बहि.
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचल पश्यन्ति शान्त मह. ।। १२३ ।।

उदय काल आता नहि जब तक, तब तक सत्ता नहि तजते,
पूर्व बद्ध विधि यद्यपि रहते, ज्ञानी जन के उर सजते।
पर ना नूतन नूतन विधि आ उनके मन पे अंकित हो,
रागादिक से रहित हुए हो जब मुनि पूर्ण-अशाकित हो ॥११८॥

ज्ञानी जन के ललित भाल पर रागादिक का वह लाछन,
सभव हो न, असम्भव ही है वह तो उज्ज्वलतम काचन।
वीतराग उन मुनि जन को फिर प्रश्न नही विधि बन्धन का,
रागादिक ही बन्धन कारण, कारण है मन-स्पन्दन का ॥११९॥

निर्मल-विकसित-बोध धाम मय विशुद्ध नय का ले आश्रय,
मन का-निग्रह करते रहते मुनि-जन गुण-गण के आलय।
राग मुक्त है रोप मुक्त है मुनि वे मुनि-जन-रजन है,
समरस पूरित समय सार का दर्शन करते वन्दन है ॥१२०॥

जब यति विशुद्ध नय मे गिरते, उलटे लटके वे झूले,
विकृत विभावो निश्चित करते आत्म बोध ही तब भूले।
विगत समय मे अर्जित विधि के आस्रव वश बहु विकल्पदल,
करते, बधते विविध विधी के बन्धन मे खो अनल्प बल ॥१२१॥

यही सार है समय सार का छन्द यहा है यह गाता,
हेय नही है विशुद्ध नय पर ध्येय साधु का वह साता।
तथापि उसको जड ही तजते भजते विधि के बन्धन को,
जो नहि मुनि जन तजते इसको भजते नहि विधि बन्धन को ॥१२२॥

अनादि अक्षय अचल बोध मे धृति बाधे विधि नाशक है,
अत शुद्ध नय उन्हे त्याज्य नहि मुनि या मुनि जन शासक है।
लखते इसमे स्थित मुनि निज बल आकुचन कर बहिराता,
एक ज्ञान घन पूर्ण शात जो अतुल अचल द्युतिमय भाता ॥१२३॥

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणा
नित्योद्योतं किमपि परम वस्तु सपश्यतोऽन्त. ।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकान्तादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ।। १२४ ।।

रागादिक सब आस्रव विघटे जब निज मन्दर मे अन्दर,
झाक झाक कर देखा मुनि ने दिखता अग अग अति सुन्दर।
तीन जगत के जहा चराचर निज प्रति-छवि ले प्रकट रहे,
अतुल अचल निज किरणो सह वह बोध भानु मम निकट रहे ॥१२४॥

इति आस्रवाधिकार

दोहा

राग-द्वेष अरु मोह मे रजित वह उपयोग ।
वसु विध-विधि का नियम से पाता दुख कर योग ॥ १ ॥

विराग समकित मुनि लिए जीता जीवन सार ।
कर्मास्रव से तब, बचे निज मे करे विहार ॥ २ ॥

संवर–अधिकार

आसंसारविरोधिसंवरजयैकान्तावलिप्तास्रव–
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं सम्पादयत्संवरम् ।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक् स्वरूपे स्फुर–
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ।। १२५ ।।

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतो: कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिता:
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युता: ।। १२६ ।।

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमान: शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ।। १२७ ।।

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भ: ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षय: कर्ममोक्ष: ।। १२८ ।।

सम्पद्यते संवर एष साक्षा
च्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्
तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ।। १२९ ।।

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ।। १३० ।।

संवर–अधिकार

सवर का रिपु आस्रव को यम मन्दिर वस दिखलाती है,
दुख-हर, सुखकर वर सवर धन महज शीघ्र प्रकटाती हैं।
पर परिणति से रहित नियत नित निज मे सम्यक् विलस रही,
ज्योति शिखा वह चिन्मय निज खर किरणावलि से विहस रही ॥१२५।

ज्ञान राग ये चिन्मय जड हैं किन्तु मोह वश एक लगे,
जिन्हे विभाजित निज वल से कर, स्व पर वोध उर देख जगे।
उस भेद ज्ञान का आश्रय ले तुम वन कर पूरण गत रागी,
शुद्ध ज्ञान घन का रस चाखो सकल मग के हो त्यागी ॥१२६॥

धारा प्रवाह वहने वाला ध्रुव वोधन मे मुरत यमी,
किसी तरह शुद्धातम ध्याता विशुद्ध वनता तुरत दमी।
हरित भरित निज कुसुमित उपवन-मे तव आतम रमता है।
पर परिणति से पर द्रव्यन मे पल भर भी नहि भ्रमता है ॥१२७॥

अनुपम अपनी महिमा मे मुनि भेद ज्ञानवश रमते हैं।
शुद्ध तत्व का लाभ उन्हे तव हो हम उनको नमते हैं।
उसको पावे पर यति निश्चल अन्य द्रव्य से दूर रहे,
मोक्ष धाम वस पास लसेगा सभी कर्म चकचूर रहे ॥१२८॥

विराग मुनि मे जव जव होता भवहर, सुखकर सवर है,
शुद्धातम के आलम्वन का फल कहते दिग-अम्वर है।
शुचि तम आतम भेद ज्ञान से सहज शीघ्र ही मिलता है,
भेद ज्ञान तू इसीलिये भज जिससे जीवन खिलता है ॥१२९॥

तव तक मुनि गण अविकल अविरल तन मन वच से वस भावे,
भेद ज्ञान को, जीवन अपना समझ उसी मे रम जावें।
ज्ञान ज्ञान मे सहज रूप से जव तक स्थिरता नहि पावे,
पर परिणतिमय चचलता को तज निज पन को भज पावें ॥१३०॥

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।। १३१ ।।

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा-
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।
बिभ्रत्तोष परममलालोकमम्लानमेकं
ज्ञान ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ।। १३२ ।।

सिद्ध शुद्ध बन तीन लोक पर विलस रहे अभिराम रहे,
तुम सब समझो भेद ज्ञान का मात्र अहो परिणाम रहे।
भेद ज्ञान के अभाव वश ही भव, भव, भव-वन फिरते हैं,
विधि बंधन में बंधे मूढ़ जन भवदधि नहिं ये तिरते हैं ॥३१॥

भेद ज्ञान बल शुद्ध तत्व में निरत हुवा मुनि तज अम्बर,
राग दोष का विलय किया पुनि किया कर्म का वर संवर।
उदित हुआ तब मुदित हुआ ध्रुव अचल बोध शुचि शाश्वत है,
खिला हुवा है खुला हुआ है एक आप बस भास्वत है ॥३२॥

इति संवराधिकार

दोहा

रागादिक के हेतु को तजते अम्बर भाव।
रागादिक पुनि मुनि मिटा भजते संवर भाव ॥ १ ॥
बिन रति-रस चख जी रहें निज घर में कर वास।
निज अनुभव-रस पी रहें उन मुनि का मैं दास ॥ २ ॥

निर्जरा-अधिकार

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरान्धृत्वा पर. सवरः
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थित ।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृत्त न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति ।। १३३ ।।

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल ।
यत्कोऽपि कर्मभि कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ।। १३४ ।।

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फल विषयसेवनस्य ना ।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः ।।१३५।

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियत ज्ञानवैराग्यशक्ति
स्व वस्तुत्व कलयितुमय स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिद तत्त्वतः स्व पर च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ।। १३६ ।।

सम्यग्दृष्टि स्वयमयमहं जातु बधो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ।
आलम्बन्ता समितिपरता ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मा नात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ता ।। १३७ ।।

निर्जरा-अधिकार

रागादिक सव आश्रव भावो को निज वल से विदारता,
सवर था वह भावी विधि को सुदूर से ही निवारता।
घधक रही अव सही निर्जरा पूर्ण वद्धविधि जला-जला,
सहज मिटाती, रागादिक से ज्ञान न हो फिर चला चला ॥१३३॥

यह सव निश्चित अतिशय महिमा अविचल शुचितम ज्ञानन की,
अथवा मुनि की विरागता की समता मे रममानन की।
विधि के फल को समय समय पर भोग भोगता भी त्यागी,
तभी नही वह विधि से वधता वधे असयत पर रागी ॥१३४॥

इन्द्रिय विषयो का मुनि सेवन करता रहता है प्रति दिन,
किन्तु विषय के फल को वह नहि पाता, रहता है रति विन।
आत्म ज्ञान के वैभव का औ विरागता का यह प्रतिफल,
सेवक नहि हो सकता फिर भी विषय सेव कर भी प्रतिपल ॥१३५॥

ज्ञान शक्ति को विराग वल को सम्यक् दृष्टी ढोता है,
पर को तजने निजको भजने मे जो सक्षम होता है।
पर को पर ही निज को निज ही जान मान मुनि निश्चित ही,
निज मे रमता पर-रति तजता राग करे नहि किंचित भी ॥१३६॥

दृग धारक हम अत कर्म नहि वधते हमसे वनते हैं,
रागी मुनि ही इस विध वकते वृथा गर्व से तनते हैं।
यदपि समितिया पाले पालो फिर भी अघ से रजित हैं,
स्वपर भेद के ज्ञान विना वे समदर्शन से वञ्चित हैं ॥१३७॥

अचिन्त्यशक्ति स्वयमेव देव-
श्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात् ।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते
ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ।। १४४ ।।

इत्थ परिग्रहमपास्य समस्तमेव
सामान्यत स्वपरयोरविवेकहेतुम् ।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्
भूयस्तमेव परिहर्त्तुमय प्रवृत्त ।। १४५ ।।

पूर्ववद्धनिजकर्मविपाकात्
ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोग ।
तद्भवत्वथ च रागवियोगात्
ननमेति न परिग्रहभावम् ।। १४६ ।।

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्
वेद्यते न खलु काक्षितमेव ।
तेन काक्षति न किञ्चन विद्वान्
सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ।। १४७ ।।

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभाव कर्म रागरसरिक्ततयैति ।
रगयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि वहिर्लुठतीह ।। १४८ ।।

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यत· स्यात्
सर्वरागरसवर्जनशील ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेष
कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ।। १४९ ।।

ज्ञानी मुनि तो सहज स्वयं ही देव रूप है सुख शाला,
चिन्मय चिन्तामणि चिंतित को पाता अचिन्त्य बल वाला ।
काम्य नहीं कुछ कार्य नहीं कुछ सब कुछ जिसको साध्य हुआ,
पर संग्रह को अत सुखी नहिं होगा यह है वाच्य हुआ ।।१४४।।

स्वपर बोध का नाशक जो है बाधक तम है शिव मग को,
तज कर इस विध विविध संग को दशविध बाहर के अघ को ।
भीतर घुस घुस बनकर मुनि अब केवल ज्ञानावरणी को,
पूर्ण मिटाने मिटा रहा है, मानस–कालुष–सरणी को ।।१४५।।

गत जीवन में अर्जित विधि के उदयपाक जब आता है,
ज्ञानी मुनि को भी उसका रस चखना पड़ तब जाता है ।
विषयों के रस चखते पर वे रस के प्रति नहिं रति रखते,
विगतराग है परिग्रही नहिं नियमित निज में मति रखते ।।१४६।।

भोक्ता हो या भोग्य रहा हो दोनों मिटते क्षण–क्षण से,
इसीलिये ना इच्छित कोई भोगा जाता तन मन से ।
विराग झरना जिस जीवन में झर झर झर झर झरता है,
विषय राग की इच्छा किस विध ज्ञानी मुनि फिर करता है ? ।।१४७।।

विषय राग के रसिक नहीं मुनि ज्ञानी नित निज रस चखते,
विग्रह-मूल परिग्रह ही है, भाव परिग्रह नहिं रखते ।
रंग लगाओ वसन रंगेगा किन्तु रंग झट उड़ सकता,
हलदी फिटकरि लगे बिना ही गाढ़ रंग कब चढ़ सकता ? ।।१४८।।

विषय-विषम-विष ज्ञानी जन ना कभी भूल कर भी पीते,
निज रस समरस सहर्ष पीते पावन जीवन ही जीते ।
कर्म कीच के बीच रहे यति परन्तु उस से ना लिपते,
रागी द्वेषी गृही असंयत पाप पंक में पर लिपते ।।१४९।।

---

१ जगत–जागरन

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि य·
कर्तुं नैष कथञ्चनापि हि परैरन्यादृश शक्यते ।
अज्ञान न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्सन्ततं
ज्ञानिन् भुक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह वन्धस्तव ।। १५० ।।

ज्ञानिन् कर्मन जातु कर्तुमुचित किञ्चित्तथाप्युच्यते
भुक्षे हन्त न जातु मे यदि पर दुर्भुक्त एवासि भो· ।
वन्ध स्यादुपभोगतो यदि न तत्कि कामचारोऽस्ति ते
ज्ञान सन्वस वन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् ।। १५१ ।।

कर्तार स्वफलेन यत्किल वलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाण फललिप्सुरेव हि फल प्राप्नोति यत्कर्मण· ।
ज्ञानं सस्तदपास्तरागरचनो नो वध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनि ।। १५२ ।।

त्यक्त येन फल स फर्म कुरुते नेति प्रतीमो वय
किंत्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति क ।। १५३ ।।

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते पर
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वानेव निसर्गनिर्भयतया शंका विहाय स्वय
जानन्त स्वमवध्यवोधवपुष वोधाच्च्यवन्ते न हि ।। १५४ ।।

लोक· शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोक स्वयमेव केवलमय यल्लोकयत्येकक· ।
लोकोऽय न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भी कुतो
निश्शंक· सततं स्वय स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ।। १५५ ।।

जिसका जिम विध स्वभाव हो, हो उसका तिम विध अपनापन,
उसमे अन्तर किस विध फिर हम ला सकते है अधुन-पन।
अज्ञ रहा वह विज्ञ न होता ज्ञान कभी अज्ञान नही,
भोगो ज्ञानी पर वश विषयो तज रति, विधि वधान नही ॥१५०॥

पर मम कुछ ना कहता पर तू भोग भोगता हू कहता,
वितथ भोगता तव ए! ज्ञानी भोग वुरा क्यो दुख सहता।
भोगत "बध" न हो यदि कहना भोगेच्छा क्या है मन मे, ?
ज्ञान लीन बन नहि तो!! रति वश जकडेगा विधि वन्धन मे ॥१५१॥

कर्ता को विधि वल पूर्वक ना कभी निजी-फल है देता,
कर्ता विधि फल-चखना चाहे खु द ही विधि फल चख लेता।
विधि को कर भी मुनि! विधिफल को, तजता परता सव जडता,
विधि फल मे ना रचता पचता ना वन्धन मे तव पडता ॥१५२॥

विधि फल तज भी विधि करते मुनि इस विध हम ना हैं कहते,
परन्तु परवश विधिवश कुछ कुछ विधि आ गिरते हैं रहते।
कौन कहे विधि ज्ञानी करते जव या रहते अमल वने,
आ, आ गिरते विधि, रहते निज-ज्ञान भाव मे अचल तने ॥१५३॥

वज्रपात भी मुनि पर हो पर धर दृढ दृग धृति जपता है,
जव कि जगत यह कायर भय से पीडित कप कप कपता है।
आत्म वोध से चिगता नहि है, ज्ञान धाम निज लखता है,
निसर्ग निर्भय निसग वन कर भय ना उर मे रखता है ॥१५४॥

एक लोक है विरत आत्म का चेतन जो है शाश्वत है,
उसी लोक को ज्ञानी केवल लखता विकसित भास्वत है।
चिन्मय मम है लोक किन्तु यह पर है पर से डर कैसा ?
निशक मुनि अनुभवता तव वस स्वय ज्ञान वन कर ऐसा ॥१५५॥

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञान स्वय वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकवलादेक सदानाकुलै' ।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो
निश्शक सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति ।। १५६ ।।

यत्सन्नाशयुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञान सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रात किमस्यापरैं ।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो
निश्शक सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति ।। १५७ ।।

स्व रूप किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्ति' स्वरूपेण यत्
शक्त कोऽपि पर प्रवेष्टुमकृत ज्ञान स्वरूप च नु' ।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो
निशङ्क. सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति ।। १५८ ।।

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरण प्राणा किलास्यात्मनो
ज्ञान तत्स्तवयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित् ।
तस्यातो मरण न किञ्चन भवेत्तद्भी' कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्क सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा वि·दति ।। १५९ ।।

एक ज्ञानमनाद्यनन्तमचल सिद्ध किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिद सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदय ।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भी' कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्क. सतत स्वयं स सहज ज्ञान सदा विन्दति ।। १६० ।।

टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाज'
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकल घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्धः
पूर्वोपात्त तदनुभवतो निश्चित निर्जरैव ।। १६१ ।।

भेद रहित निज सुवेद्य वेदक–वल से केवल सवेदन,
विराग मन से आस्वादित हो अचल ज्ञान मय इक चेतन ।
परकृत परिवेदन पीडन से ज्ञानी को फिर डर कैसा ?
सहज ज्ञान को स्वय सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ।।१५६।।

जो भी सत है वह ना मिटता स्पष्ट वस्तु की यह गाथा,
ज्ञान स्वय सत रहा कौन फिर उसका पर हो तब त्राता ?
अत अरकृत भय ज्ञानी जन को होगा फिर कैसा ?
सहज-ज्ञान को स्वय सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ।।१५७।।

वस्तु रूप ही गुप्ति रही वस उसमे नहि पर घुसता है,
उसी तरह वह ज्ञान सुधी का स्वरूप सुख कर लसता है ।
अत अगुप्ति न ज्ञानी जन को हो फिर किससे डर कैसा ?
सहज ज्ञान को स्वय सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ।।१५८।।

प्राणो का हो कण कण खिरना मरण नाम वस वह पाता,
ज्ञानी का पर ज्ञान न नश्वर कभी नही मिट यह जाता ।
मरण नही निज आतम का है अत मरण से डर कैसा ?
सहज ज्ञान को स्वय सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ।।१५९।।

आदि अन्त से रहित अचल है एक ज्ञान है उचित सही,
आप स्वत है जव तक तब तक उसमे पर हो उदित नही ।
आकस्मिक निज मे ना कुछ हो फिर तब उससे डर कैसा ?
सहज ज्ञान को स्वय सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ।।१६०।।

समरस पूरित शुद्ध वोध का पावन भाजन वन जाता,
विराग दृग धारक विधि-नाशक दृष्टि अग वसु धन पाता ।
इस विध परिणति जब हो मुनि की पर परिणति की गध न हो,
पूर्व उपार्जित कर्म निर्जरा भोगते भी विधि बन्ध न हो ।।१६१।।

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजै. सङ्गतोऽष्टाभिरङ्गैः
प्राग्बद्ध तु क्षयमुपनयन्निर्जरोज्जृम्भणेन ।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं
ज्ञान भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्ग विगाह्य ।। १६२ ।।

अष्ट अग दृग मग सभाले नव्य कर्म का कर सवर,
वद्ध कर्म को जर, जर कर क्षय करते तज मुनिवर अम्वर।
आदि अन्त से रहित ज्ञान वन स्वय मुदित हो दृगधारी,
तीन लोक के रग मच पर नाच रहा है अघहारी ॥१६२॥

इति निर्जराधिकार

दोहा

साक्षी वन कर विपय का करते मुनिवर भोगो
पूर्व-कर्म की निर्जरा हो तव शुचि उपयोग ॥१॥

वध किये विन वधका वधन टूटे आप।
महिमा यह सव साम्य की विराग दृग की छाप ॥२॥

—•—

बन्ध-अधिकार

रागोद्गारमहारसेन सकल कृत्वा प्रमत्त जगत्
क्रोडन्त रसभावनिर्भरमहानाट्येन वन्ध धुनत् ।
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्था स्फुटन्नाटयद्
धीरोदारमनाकुल निरुपधि ज्ञान समुन्मज्जति ।। १६३ ।।

न कर्मबहुल जगन्न चलनात्मक कर्म वा
न नेककरणानि वा न चिदचिद्वधो वन्धकृत् ।
यदैक्यमुपयोगभू समुपयाति रागादिभि
स एव किल केवल भवति वन्धहेतुर्नृणाम् ।। १६४ ।।

लोक कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मक कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादन चास्तु तत् ।
रागदीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञान भवन्केवल
वन्ध नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ।। १६५ ।।

तथापि न निरर्गल चरितुमिष्यते ज्ञानिना
तदायतनमेव मा किल निरर्गला व्यापृति ।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारण ज्ञानिना
द्वय न हि विरुद्धयते किमु करोति जानाति च ।। १६६ ।।

जानाति य स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मराग ।
राग त्वबोधमयध्यवसायमाहु-
र्मिथ्यादृश स नियत स च बन्धहेतु ।। १६७ ।।

सर्वं सदैव नियत भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदु खसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु पर परस्य
कुर्यात्पुमान मणरजीवितदु खसौख्यम् ।। १६८ ।।

बन्ध-अधिकार

वन्ध तत्व यह राग मद्य को घुला घुला कर पिला पिला,
सकल विश्व को, मत्त वनाकर खेल रहा था खुला खिला ।
धीर निराकुल उदार मानम ज्ञान सहजता जगा रहा,
चिदानन्दमय रस, पीकर अव वन्ध तत्व को भगा रहा ।।१६३।।

सचित अचित का वध नहिं विधि के वध हेतु ना इंद्रियगण,
भरा जगत भी विधि से नहिं है चचलतम भी "वच तन मन" ।
राग रग मे रचता पचता रागी का उपयोग रहा,
केवल कारण विधि वन्धन का यो कहते मुनि लोग अहा ।।१६४।।

यदपि भले ही इन्द्रिय गण हो चिदचित् वध हो क्षण क्षण हो,
जग हो विधि से भरा रहा हो चचलतर ये तन मन हो ।
राग रग से रजित करता यदि नहिं शुचि उपयोगन को,
निश्चय विराग दृढ धारक मुनि पाता नहिं विधि-योगन को ।।१६५।।

परन्तु ज्ञानी मुनि को वनना स्वेच्छाचारी उचित नही,
उच्छृंकलपन वन्ध धाम है आत्म ज्ञान हो उदित नही ।
इच्छा करना तथा जानना युगपत् दो ये नहिं वनते,
विना राग के कार्य अत हो मुनि के नहिं तो ! विधि तनते ।।१६६।।

जो मुनि निज को जान रहा है वह ना करता विधि वन्धन,
जो विधि करता नहिं निज लखता यही राग का अनुरजन ।
राग रहा है अवोधमय ही अध्यवसायन का आलय,
मिथ्या दर्शन वन्ध हेतु वह जिनवाणी का यह आशय ।।१६७।।

नियत रहे है सभी जगत मे सुख दुख मृतिभय जनना रे !
अपने-अपने कर्म-पाक वश पाते जग जन तनधारे ।
सुख दुख देता पर को जीवित करता मैं निज के वल से,
तेरा कहना भूल रही यह फलत वचित केवल से ।।१६८।।

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यन्ति ये मरणजीवितदु खसौख्यम् ।
कर्माण्यहङ्कृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ।। १६९ ।।

मिथ्यादृष्टे स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ।। १७० ।।

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहित ।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मान करोति यत् ।। १७१ ।।

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा-
दात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष
नास्तीह येषा यतयस्त एव ।। १७२ ।।

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्य यदुक्तं जिनै-
स्तण्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कपमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ।। १७३ ।।

रागदयो बन्धनिदानमुक्ता
स्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ता' ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्त-
मिति प्रणन्ना पुनरेवमाहु ।। १७४ ।।

न जातु रागादिनिमित्तभाव-
मात्मात्मनो याति यथार्ककांत· ।
तस्मिन्निमित्त परसग एव
वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ।। १७५ ।।

इति वस्तुस्वभाव स्व ज्ञानी जानाति तेन स ।
रागदीन्नात्मन. कुर्यान्न नातो भवति कारक· ।। १७६ ।।

इति वस्तुस्वभाव स्व नाज्ञानी वेत्ति तेन स. ।
रागादीनात्मन कुर्यादतो भवति कारक· ।। १७७ ।।

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूला बहुभावसन्ततिमिमानुद्धर्तुकाम समम् ।
आत्मान समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसविद्युत
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ।। २७८ ।।

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बन्ध विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ।
ज्ञानज्योति क्षपिततिमिर साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ।। १७९ ।।

रागादिक कालुप परिणतिया यद्यपि आतम मे होती,
स्वभाव से पर वे ना होती कर्म-हेतु वश ही होती।
मोह पाक ही उसमे कारण वस्तु तत्व यह उचित रहा,
सूर्य विम्व वश सूर्यकान्तिमणि से ज्यो अगनी उदित अहा ॥१७५॥

इस विध पर की विना अपेक्षा वस्तु तत्व का अवलोकन,
सहज स्वयं ही ज्ञानी मुनिजन करते परका कर मोचन।
रागादिक से अत स्वयं को करते नही कलकित हैं,
कर्ता कारक वनते नहि हैं फलतः सदा अशकित हैं ॥१७६॥

वस्तु-तत्व का रूप कभी ना जिनके दृग मे अकित है,
अज्ञानी वे कहलाते हैं निज के सुख से वचित हैं।
रागादिक मे अत स्वय को करते सदा-कलकित हैं,
कर्ता कारक वनते जव हैं फलत. पामर शंकित हैं ॥१७७॥

इसविध विचार विविध विकल्पो को तजने निज भजते हैं,
राग भाव का मूल परिग्रह मुनिवर जिसको तजते हैं।
निजी निरामय सवेदन से भरित आत्म को पाते हैं,
वन्ध मुक्त वन भगवन अपने मे तव आप सुहाते हैं ॥१७८॥

वहु विध-वसुविध राग कार्य-विधि-वध, मिटा वन निरा अदय,
विधि वन्धन के कारण जिनको रागादिक के मिटा उदय।
भ्रम-तम-तम को तथा भगाता, ज्ञान भानु अव उदित हुआ,
जिसके वल को रोक सकेगा कोई ना यह विदित हुवा ॥१७९॥

इति वन्धाधिकार.

दोहा

मात्र कर्म के उदय से नहि वसु विध-विधि-वध।
रागादिक ही नियम से वधहेतु, मुन-अध ॥१॥
वन्ध तत्व का ज्ञान ही केवल मोक्ष न देत।
मोह त्याग ही मोक्ष का साक्षात् स्वाश्रित हेतु ॥२॥

मोक्ष-अधिकार

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ
नयन्मोक्ष साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम् ।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमान्दसरस
पर पूर्णं ज्ञानं कृतसककृत्य विजयते ।। १८० ।।

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणै पातिताः सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्त'सन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य
आत्मानं मग्नमत स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्ध चाज्ञानभावे नियमितमभित कुर्वती भिन्नभिन्नौ ।। १८१ ।।

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यन्ता न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ।।१८२।।

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत् ।
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तुमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ।। १८३ ।।

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो
भावा. परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो
भावा. परे सर्वत एव हेयाः ।। १८४ ।।

मोक्ष-अधिकार

भिन्न भिन्न कर बन्ध पुम्प को प्रज्ञामय उस आरे से,
विठा पुरुप को मोक्ष धाम मे उठा भवार्णव-खारे से !
परम महज निज चिदानन्दमय-रस से पूरित झील अहो !
सकल कार्य कर विराम पाया ज्ञान सदा जय शील रहो ।।१८०।।

आत्म कर्म की सूक्ष्म सधि मे प्रमाद तज जब मुनि झटके,
प्रज्ञावाली पैनी छैनी पूर्ण लगाकर बल पटके।
अवोध-विभाव मे विधि, शुचि-ध्रुव चेतन मे निज आतम को,
स्थापित करती भिन्न भिन्न कर करे दूर वह हा ! तम को ।।१८१।।

जो कुछ भिदने योग्य रहा था उसे भेद निज लक्षण से,
अविभागी निज चेतन शाला नित ध्याऊ मैं क्षण क्षण से ।
कारक गुण धर्मादिक मे मुझ मे भले हि कुछ भेद रहे,
तथापि शुचिमय विभुमय चिति मे भेद नही, गत-भेद रहे ।।१८२।।

अभेद होकर भी यदि चेतन तजता दर्शन-ज्ञान मनो,
समान विशेप नहि रह पाते तजता निजको तभी सुनो ।
निजको तजता भजता जडता विना व्याप्य व्यापक चेतन,
होगा विनष्ट अत नियम से आत्म, ज्ञान-दृग का केतन ।।१८३।।

एक भाव वह द्युतिमय चिन्मय चेतन का नित लसता है,
किन्तु भाव सब परके पर है तू क्यो उनमे फसता है ?
उपादेय है ज्ञेय ध्येय है केवल चेतन-भाव सदा,
भाव हेय हैं पर के सारे सुखद-अचेतन-भाव कदा ? ।।१८४।।

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभि सेव्यतां
शुद्ध चिन्मयमेकमेव परम ज्योति· सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावा. पृथग्लक्षणा-
स्तऽह नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्य समग्रा अपि ।। १८५ ।।

परद्रव्यग्रह कुर्वन् बध्येतैवापराधवान् ।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये सवृतो मुनि ।। १८६ ।।

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराध
स्पृशति निरपराधो बन्धन नैव जातु ।
नियतमयमशुद्ध स्व भजन्सापराधो
भवति निरपराध साधु शुद्धात्मसेवी ।। १८७ ।।

अतो हता प्रमादिनो गता सुखासीनतां
प्रलीन चापलमुन्मूलितमालबनम् ।
आत्मन्येवालानित च चित्त-
मासपूर्णविज्ञानघनोपलब्धे ।। १८८ ।।

यत्र प्रतिक्रमणमेव विष प्रणीत
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुत स्यात् ।
तत्कि प्रमाद्यति जन प्रपतन्नधोऽध
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमाद ।। १८९ ।।

प्रमादकलित कथं भवति शुद्धभावोऽलस.
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यत ।
अत स्वरसनिर्भरे नियमित· स्वभावे भवन्
मुनि· परमशुद्धता व्रजति मुच्यते चाऽचिरात् ।। १९० ।।

जिन की मन की परिणति उजली मोक्षार्थी वे आराधे,
छविमय द्युतिमय एक आपको शुचितम करके शिव, साधे।
विविध भाव है जो कुछ लसते मुझसे विभिन्नपन धारे,
मैं वस चेतन ज्ञान-निकेतन ये पर सारे हैं खारे।। १८५।।

जड़मय-पुद्गल पदार्थ दल का पर का सग्रह करता है,
वसु विध विधि से अपराधी वह वधता विग्रह धरता है।
निरपराध मुनि विराग वन के निज मे रमता भज सवर,
वधता कदापि ना वो विधि से निज को नमता तज अवर।।१८६।।

मलिन भाव कर अपराधी मुनि अविरल निश्चित विधि पाता,
विधि से वधता निरपराध नहि यतिवर निज की निधि पाता।
शुद्धातम की सेवा करता निरपराध मुनि कहलाता,
रागात्मा को भजने वाला सापराध वन दुख पाता।।१८७।।

विलासतामय जीवन जीते प्रमत्त जन को धिक्कारा,
क्रिया काण्ड को छुडा मिटाया चचलतम मन की धारा।
शुद्ध-ज्ञान-घन की उपलब्धी जीवन मे नहि हो जव लौ,
निश्चित निज मे उनको गुरु ने विलीन करवाया तव लौ।।१८८।।

प्रतिक्रमण ही विप है खारा गाया जिनने जव ऐसा,
अप्रतिक्रमणा सुधासरस हो सकता सुखकर तव कैसा ?
वार वार कर प्रमाद फिर भी नीचे नीचे गिरते हो,
क्यो ना ऊपर-ऊपर उठते प्रमाद पीछे फिरते हो।।१८९।।

प्रमाद मिश्रित भाव-प्रणाली शुद्ध-भाव नहि वह साता,
कपायरजित पूर्ण रहा है अलस-भाव है कहलाता।
सरस स्वरस परि-पूरित निज के स्वभाव मे मुनिरत होवे,
फलत पावन शुचिता पावे शिवको, पर अविरत रोवें।।१९०।।

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति य. स नियत सर्वापराधच्युतः ।
बन्धध्वसमुपेत्य नित्यमुदित· स्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ।। १९१ ।।

बन्धच्छेदात्कलयदतुल मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।
एकाकारस्वरसभरतो:त्यन्तगम्भीरधीर
पूर्णं ज्ञान ज्वलितमचले स्वस्य लीन महिम्नि ।। १९२ ।।

विकृत विभावो के कारण पर-द्रव्यन को बस तजता है,
रुचि लेता मुनि यथार्थ निज मे, पर को कभी न भजता है।
तोड-तोड कर वसु-विध-वधन पाप पक को धोता है,
चेतन जल से पूरित सर मे स्नपित-पूर्ण शुचि होता है ।।१६१।।

अतुल्य अव्यय शिवपद को वह पूर्ण-ज्ञान पा, राग हटा,
जग मग जग मग करता निज को सहज दशा मे जाग उठा।
केवल ! केवल, रस से पूरित नीर-राशि सम गभीरा,
ज्योति-धाम निज ओज-तेज से अगम अमित तम, सम्धीरा ।।१६२।।

इति मोक्षाधिकार

दोहा

वसु विध विध का विलयमय निलय, समय का मोक्ष।
व्यक्त-रूप है सिद्ध मे, तुझ मे वही परोक्ष ।।१।।

दृग व्रत—समता धार के द्रव्य-भव्य भज आप।
निरा निरामय आत्म हो रूप द्रव्य तज ताप ।।२।।

सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान
दूरीभूतं प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्ते· ।
शुद्ध शुद्ध· स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्ज ॥ १९३ ॥

कर्तृत्व न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकं ॥ १९४ ॥

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवन ।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्ध· प्रकृतिभि.
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहन ॥ १९५ ॥

भोक्तृत्व न स्वभावोऽस्य स्मृत· कर्तृत्ववाच्चत ।
अज्ञानदेव भोक्ताय तदभावादवेदक. ॥ १९६ ॥

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदक· ।
इत्येव नियम निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यता ज्ञानिता ॥ १९७॥

सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार

कर्तृ-भोक्तृ मय विभाव भावो घटा, मिटा अघ-अजन से,
दूर रहा है, पद पद पल पल वंध मोक्ष के रजन से।
अचल प्रकटतम महिमा धारी ज्ञान पुंज दृग मजु सही,
शुद्ध, शुद्धतम, विशुद्ध शोभित स्वरस-पूर्ण द्युति पुण्यमही ।।१९३।।

जैसा चेतन आतम का निज सवेदन निज भाव रहा,
वैसा कर्तापन आतम का होता नहिं, पर भाव-रहा।
मूढपना वश करता आत्मा विषयी मोही अज्ञानी,
मिटा मूढपन, कर्ता नहिं हो मुनिवर निर्मोही ज्ञानी ।।१९४।।

यदपि स्वरस से भरा जीव है विदित हुवा, नहिं कर्ता है,
तीन लोक मे फैल रहा है ले शुचि-चिति-द्युति शिव धर्ता है।
तदपि मूढता की कोई है महिमा सघना-गम न्यारी,
इसीलिए विधि वधन होता दुखकारी, सुख शम-हारी ।।१९५।।

जैसा कर्तापन आतम का होता नहिं निज भाव रहा,
वैसा होता चेतन का नहिं भोक्तापन भी भाव रहा।
मूढ पना वश भोक्ता आत्मा विषयी मोही अज्ञानी,
उसे नाशकर सुधी अवेदक मुनि हो निर्मोही ज्ञानी ।।१९६।।

अज्ञानी विधिफल मे रमता निश्चित विधि का वेदक है,
ज्ञानी विधि मे रमता नहिं है वेदक ना, निज-वेदक है।
इस विध विचार मुनिगण! तुम को मूढ पना बस तजना है,
ज्ञान पने के शुद्ध तेज मे निजमे निज को भजना है ।।१९७।।

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम् ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ।। १९८ ।।

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः ।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ।। १९९ ।

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुत. ।। २००

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः ।
यत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ।। २०१ ।।

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम-
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराक ।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ।। २०२ ।।

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृते. स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः ।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ।। २०३ ।।

ज्ञानी विराग मुनि नहिं विधि का करता वेदन, विधि करता,
केवल विधिवत् विधि का विधिपन जाने, गुण-वारिधि धरता ।
कर्तापन वेदन–पन को तज केवल साक्षी रह जाता,
शुचितम स्वभाव रत होने से कर्म–मुक्त ही कहलाता ।।१९८।।

निजको पर का कर्ता लखते परमे मुनि जो अटक रहे,
मोहमयी अति घनी निशा मे, इधर उधर वे भटक रहे ।
यदपि मोक्ष की आशा रखते तदपि सदा भव दुख पाते,
साधारण जनता सम वे भी नहिं अक्षय शिव सुख पाते ।।१९९।।

आत्म–तत्व औ अन्य तत्व ये स्वतन्त्र–स्वतन्त्र रहते है,
एक–मेक हो आपस मे मिल प्रवाह वन ना वहते है ।
कर्तृ–कर्म सवद्ध सिद्ध वह इसविध जव ना होता है,
फिर किस विध पर कर्तृ कर्म पन हो, क्यो फिर तू रोता है ।।२००।।

सभी तरह सम्वन्ध निषेधित करते जग के नाथ सभी,
सम्वन्ध न हो एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ कभी ।
वस्तु भेद होने से, फिर क्या कर्तृ कर्म की दशा रही,
निज के अकर्तृपन मुनि फलत लखते, अव ना निशा रही ।।२०१।।

ज्ञान तेज अज्ञान भाव मे ढला खेद जिनका ताते,
निज पर स्वभाव तो ना जाने पागल पामर कहलाते ।
मूढ कर्म वे करते फलत लखते निज चैतन्य नही,
भाव कर्म का कर्त्ता चेतन अत स्वय है, अन्य नही ।।२०२।।

कर्म कार्य जव किया हुवा, पर जीव प्रकृति का कार्य नही,
अज्ञ प्रकृति भी स्वकार्य फल को भोगे तव अनिवार्य सही ।
[illegible] प्रकृति का भी न, अचेतन प्रकृति ! जीव ही कर्ता है,
भाव कर्म सो चेतनमय है, पुद्गल ज्ञान न धरता है ।।२०३।।

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकै. क्षिप्त्वात्मन. कर्तृतां
कर्तात्मैष कथञ्चिदित्यचलिता चैश्चिच्छ्रुतिः कपिता ।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधिया बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबंधलब्धविजया वस्तुस्थिति. स्तूयते ।। २०४ ।।

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हता.
कर्तारं कलयतु त किल सदा भेदावबोधादध. ।
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियत प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेक परम् ।।

क्षणिकमिदमिहैक: कल्पयित्वात्मतत्त्वं
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम् ।
अपहरति विमोह तस्य नित्यामृतौघै
स्वयमयमभिषिचश्चिच्चमत्कार एव ।। २०६ ।।

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्त वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।
अन्य करोति भु क्ते ऽन्य इत्येकान्तश्चकास्तु मा ।। २०७ ।।

आत्मान परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्ति प्रपद्यान्धकै·
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः ।
चैतन्य क्षणिक प्रकल्प्य पृथुकै शुद्धर्जुसूत्रे रतै·
आत्मा व्युज्झित एप हारवदहो नि.सूत्रमुक्तेक्षिभि· ।। २०८ ।।

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव सञ्चिन्त्यताम् ।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तु न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः ।।२०९।।

मात्र कर्म "कर्ता" यो कहता निज कर्तापन छिपा रहा,
कथंचिदात्मा "कर्ता" कहती जिन श्रुति को ही मिटा रहा।
उस निज घातक की लवुधी को महा मोह मे मुदी हुई,
विशुद्ध करने अनेकान्तमय वस्तु स्थिती यह कही गई ॥२०४॥

लखे अकर्तामय निज को नहि जैन साख्य सम ये तव लौ,
कर्ता मय ही लखे सदा, शुचि-भेद ज्ञान नहि हो जवलौ।
विराग जव मुनि तीन गुप्ति मे-लीन, समिति मे नहि भ्रमते,
कर्तृ भाव से रहित पुरुष के वोध-धाम मे तव रमते ॥२०५॥

कर्ता भोक्ता भिन्न भिन्न है आतम तत्व जव क्षणिक रहा,
इस विध कहता सुगत उपासक जिसमे-वोध न तनिक रहा।
चेतन का शुचि चमत्कार ही उसके भ्रम को विनाशता,
सरस सुधारस मे सिचन कर मुकुलित कलिका विकासता ॥२०६॥

अश भेद ये पल-पल मिटते, अशी मे अति पृथक रहे,
अत विनश्वर अशी है, हम वस्तु तत्व के कथक रहे।
विधि का कर्ता अत अन्य है विधि का भोक्ता अन्य रहा,
इस विध एकान्ती मत, मत तुम धारो, जिन मत वन्द्य अहा ॥२०७॥

शुचितम निजको लखने वाले अति-व्याप्ति मल जान रहे।
काल उपाधी वश आतम मे अधिक अशुचिपन मान रहे।
सूत्र-ऋजु नयाश्रय ले चिति को क्षणिक मान आतम त्यागा,
वौद्धो ने मणि स्वीकारा, पर त्यागी माला विन धागा ॥२०८॥

कर्ता भोक्ता मे विधि वश हो अन्तर या ना किचन हो,
कर्ता भोक्ता हो या ना हो चेतन का पर चितन हो।
माला मे ज्यो मणिया गुथी चिति चितामणि आतम मे,
पृथक उन्हे कर कौन लखेगा शोभित जो मम आतम मे ॥२०९॥

व्यावहारिकदृशैव केवल कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते ।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ।।२१०।।

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयत·
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् ।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव तत ।। २११ ।।

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वय
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम् ।
स्वभावनियत यत सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुल किमिह मोहित. क्लिश्यते ।। २१२ ।।

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
निश्चयोऽयमपरो परस्य क· किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ।।२१३।।

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुन किञ्चनापि परिणामिन· स्वयम् ।
व्यावहारिकदृशैव तन्मत नान्यदस्ति किमपीप निश्चयात् ।।२१४।।

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगत चकास्ति किमपि द्रव्यान्तर जातुचित् ।
ज्ञान ज्ञेयमवैति यत्तु तदय शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जना· ।। २१५ ।।

व्यवहारी मानव दृग की ही केवल यह है विशेपता,
कर्तृ कर्म ये भिन्न-भिन्न ही यहा झलकते अशेपता।
निश्चय नय का विपय भूत इम विरागता का ले आश्रय,
मुनि जव लखता निजको, भेद न अभेद दिखता सुख आलय ॥२१०॥

आश्रय, आश्रय-दाता क्रमश सुपरिणाम परिणामी है,
अत कर्म परिणाम उसीका परिणामी वह स्वामी है।
कर्ता के विन कर्म न पदार्थ दोनो का वह भर्ता है,
वस्तु स्थिती है निज परिणामो का निज ही वम कर्ता है ॥२११॥

अमिट-अमित-द्युति वल ले चेतन जग मे विहार करता है,
किन्तु किसी मे वह ना मिलता यो मुनि विचार करता है।
यद्यपि वस्तुएँ परिणमती हैं अपने अपने भावो से,
तदपि वृथा क्यो व्यथित मूढ है स्वभाव तज अघ-भावो से ॥२१२॥

एक वस्तु वह अन्य वस्तु की नहीं वनेगी गुरू गाता,
वस्तु सदा वस वस्तु रहेगी वस्तु तत्व की यह गाथा।
इम विध जव यह सिद्ध हुआ पर पर का फिर क्या कर सकता ?
एक स्थान पर रहो भले ही मिलकर रहना चल सकता ॥२१३॥

अन्य वस्तु के परिणामो मे पदार्थ निमित्त वनता है,
पदार्थ परिणामी परिणमता पर कर्ता नहि वनता है।
अन्य वस्तु का अन्य वस्तु है करती इम विध जो कहना,
व्यवहारी जन की वह दृष्टी निश्चय से तुम ना गहना ॥२१४॥

निज अनुभवता शुद्ध द्रव्य मुनि लखने मे जव तत्पर हो,
एक द्रव्य वस विलसित होता, नही प्रकासित तव पर हो।
ज्ञेय ज्ञान मे तदपि झलकते ज्ञान वना जव शुचि दर्पण,
किन्तु मूढ तू पर मैं रमता निजपन पर मैं कर अर्पण ॥२१५॥

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः ।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि-
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ।। २१६ ।।

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावत्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम् ।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः ।। २१७ ।।

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृश्यमानौ न किञ्चित् ।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटन्तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ।। २१८ ।।

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या
नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि ।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति
व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात् ।। २१९ ।।

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र ।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ।। २२० ।।

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ।। २२१ ।।

शुद्ध आत्म की स्वरस चेतना ज्ञानमयी वह जभी मिली,
विषय विषैली रहे भले पर पृथक पडी पर सभी गिरी।
ध्वलित भूतल करती किरणें शशि की "भूमय" नहि होती,
ज्ञान, ज्ञेय को जान "ज्ञेय मय" नहि हो, यह शुचिमय ज्योति ॥२१६॥

ज्ञान–ज्ञान बन, ज्ञेय निजी को बना, न जब तक शोभित हो,
राग रोष ये उठते उर मे आतम जब तक मोहित हो।
मूढ पने को पूर्ण हटा कर, ज्ञान ज्ञान पन पाता है,
अभाव-भावों हुए मिटा कर पूरण स्वभाव भाता है ॥२१७॥

मूढ पने मे ढला ज्ञान ही राग रोष है कहलाता,
समाविरत मुनि रागादिक को तभी नही कर वह पाता।
विराग दृग पा रागादिक का तत्व दृष्टि से नाश करो,
सहज प्रकट शुचि ज्ञान ज्योति हो, मोक्ष धाम मे वास करो ॥२१८॥

रागादिक कालुप भावो का पर-पदार्थ नहि कारण है,
तत्व दृष्टि से जब मुनि लखते अवगम हो अघ-मारण है।
समय-समय पर पदार्थ भर मे जो कुछ उठना मिटना है,
अपने अपने स्वभाव वश ही समझ जरा ! तू इतना है ॥२१९॥

मानस सरवर मे यदि लहरे राग रग की उठती हैं,
पर को दूषण उसमे मत दो स्वतन्त्र सत्ता लुटती है।
चेतन ही बस अपराधी है, बोध हीन रति करता है,
"बोध-धाम मैं" सुविदित हो यह अबोध पल मे टलता है ॥२२०॥

पर पदार्थ ही केवल कारण रागादिक के बनने मे,
डरते नहि हैं कतिपय विषयी जड जन इस विध कहने मे।
डूबे निश्चित, कभी नही वे मोह सिन्धु को तिरते हैं,
वीतराग विज्ञान विकल बन भव भव दुख से घिरते हैं ॥२२१॥

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधा न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रिया तत इतो दीप प्रकाश्यादिव ।
तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयीभवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ।। २२२ ।।

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवना ज्ञानस्य सञ्चेतनाम् ।। २२३ ।।

ज्ञानस्य सञ्चेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीवशुद्धम् ।
अज्ञानसञ्चेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्ध. ।।२२४।।

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषय मनोवचनकायैः ।
परिहृत्य कर्म सर्वं परम नैष्कर्म्यमवलम्बे ।। २२५ ।।

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ।। २२६ ।।

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ।। २२७ ।।

परम विमल निश्चयतामय निज बोध धार पर से ज्ञानी,
दीप घटादिक से जिमविध ना विकृत प्रभावित मुनिध्यानी।
निज पर भेद ज्ञान बिन फिर भी राग रोष कर अज्ञानी,
वृथा व्यथा क्यों भजते, तजते ममता, करते नादानी ।।२२२।।

राग रोष से रहित ज्योति धर नित निजपन को छूते हैं,
विगत अनागत कर्म मुक्त हैं कर्मोदय ना छूते हैं।
विरत पाप से, निरत निजी शुचि-चारित में हैं अति भाते,
निज रस से सिंचित करती जग, "ज्ञान चेतना" यति पाते ।।२२३।।

ज्ञान चेतना करने से ही, शुद्ध, शुद्धतर बनता है,
पूर्ण प्रकाशित ज्ञान तभी हो बद्ध कर्म हर, तनता है।
मूढपने के सचेतन में बोध विमलता नशती है,
तभी चेतना नियमरूप से विधि बन्धन में फसती है ।।२२४।।

कृत से कारित अनुमोदन से तन से वच से औ मन से,
विगत अनागत आगत विषयों त्रिकालता में चेतन में।
सकल क्रिया से विराम पाया, निज चेतन का आलम्बन,
लेता विराग मुनि बन, तू भी अब तो कर तन मन स्तम्भन ।।२२५।।

मैंने मोही बन बल में यदि अतिक्रमण का भाव किया,
मन वच तन से उसका त्रिविवत् प्रतिक्रमण का भाव लिया।
चेतन रस से भरा हुआ, सब क्रिया रहित निज आतम में,
स्थिर होता, स्थिर हो जा, तू भी भ्रमता क्यों जटता-तम में ।।२२६।।

मोह भाव से अनुरंजित हो साम्प्रत कर्म किया करता,
उनका भी मैं आलोचन कर दया भाव निज पे धरता।
चेतन रस से भरा हुआ—सब क्रिया रहित निज आतम में,
स्थिर होता, स्थिर हो जा! तू भी भ्रमता क्यों जटता तम में ।।२२७।।

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्त निरस्तसम्मोह् ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ।। २२८ ।।

समस्तमित्येवमपास्य मर्मं त्रैकालिकं शुद्धनयावलंवी ।
विलीनमोहो रहित विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलबे ।।२२६।।

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
सचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम् ।। २३० ।।

नि शेषकर्मफलसन्यसनान्ममैवं
सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं
कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ।। २३१ ।।

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणा
भुक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्त ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तर स ।। २३२ ।।

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरत कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसकेतनायां.।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगत ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानन्द नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकाल पिवन्तु ।। २३३ ।।

वीत मोह वन, वीत राग वन निग्रह कर मन स्पदन का,
प्रत्याख्यान करू मैं अब उस भावी विधि के वन्धन का ।
चेतन रस से भरा हुवा सब-क्रिया रहित निज आतम मे,
स्थिर होता, स्थिर हो जा ! तू भी भ्रमता क्यो जडता-तम मे ॥२२८॥

इस विध वहुविध विधि के दल को विगत अनागत आगत को,
तजकर करता भाग्य मानकर विशुद्ध नय के स्वागत को ।
शशि सम शुचितम चेतन आतम-मे वस निश दिन रमता मैं,
निर्मोही वन, निर्विकार वन, केवल धरता समता मैं ॥२२९॥

मेरे विधि के विप-तरू मे जो कटु-विप-फल-दल लटक रहे,
सडे गिरे वे विना भोग के मन कहता ना निकट रहे ।
फलत निश्चल शैल सचेतन-शुचि आतम को अनुभवता,
इस विध विचार विराग मुनि मे समय-समय पर उद्‌भवता ॥२३०॥

अशेष-वसुविध विधि के फल को पूर्ण उपेक्षित्र किया जभी,
अन्य क्रिया तज निज आतम को मात्र अपेक्षित किया तभी ।
अमिट काल की परम्परा मम भजे निरतर चेतन को,
द्रुत गति से फिर विहार करले सहज स्वय शिव-केतन को ॥२३१॥

विधि-विष-द्रुम को विगत काल मे विभाव जल से सीचा था,
पर अव उसके फल ना खा, खा निज फल केवल सुख पाता ।
सदा सेव्य है सुन्दरतम है मधुर मधुरतर है साता,
इस विध निज सुख, क्रिया रहित है जिसको मुनिवर है पाता ॥२३२॥

विधि से से विधि फल से अविरति से विरत व्रती हो सयत हो,
विकृत चेतना पूर्ण मिटाकर सग रहित हो, सगत हो ।
ज्ञान–चेतनामय निज रस से निज को पूरण भर जीवो,
परम-प्रशम रस-सरस सुधारस है मुनि झट घट-भर पीवो ॥२३३॥

इत पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद्-
विना कृतेरेकमनाकुल ज्वलत् ।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्-
विवेचित ज्ञानमिहावतिष्ठते ।। २३४ ।।

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमल ज्ञान तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुर
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ।। २३५ ।।

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत् तथात्तमादेयमषतस्तत् ।
यदात्मन सहृतसर्वशक्ते· पूर्णस्य सधारणमात्मनीह ।। २३६ ।।

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम् ।
कथमाहारक तत्स्याद्येन देहोऽस्य शंक्यते ।। २३७ ।।

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमय ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम् ।। २३८ ।।

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा २३९ ।।

ज्ञान ज्ञेय से ज्ञेय ज्ञान से यदपि प्रभावित होते हैं,
पर ये निज निज के कर्ता पर-के कदापि ना होते हैं।
सकल वस्तुएं भिन्न-भिन्न हैं ऐसा निश्चय जभी हुवा,
ज्ञान आप मे पाप-ताप विन उज्ज्वल निश्चल तभी हुवा ।।२३४।।

पर से न्यारा स्वय सभारा धारा इस विध रूप निरा,
गृहण-त्याग-मय-शील-शून्य है अमल ज्ञान सुख कूप मिरा[1] ?
आदि मध्य औ अन्त रहित है जिसकी महिमा द्युतिशाली,
शुद्ध-ज्ञान-घन नित्य उदित है सहज विभामय सुख-प्याली ।।२३५।।

निज आतम मे निज आतम को जिसने स्थापित किया यमी,
कच्छप मम सकोचित इन्द्रिय पूर्ण रूप से किया दमी।
जो कुछ तजने योग्य रहा था उसको उसने त्याग दिया,
ग्राह्य जिमे झट ग्रहण किया, क्यो तू ने परमे राग किया ? ।।२३६।।

स्वय सुखाकर ज्ञान दिवाकर इस विध निश्चित प्रकट रहा,
सुचिरकाल से पूर्ण रूप से पर द्रव्यन से पृथक रहा।
उत्तर दो अव ज्ञान हमारा आहारक फिर हो कैसा ?
जिससे तुम हो कहते रहते "काय ज्ञान का हो" ऐसा !! ।।२३७।।

शशिसम उज्ज्वल उज्ज्वलतर है निर्विकारतम ज्ञान महा,
इसीलिए जडकाय ज्ञान का हो नहि सकता जान अहा !
"यथाजात" ज्ञानी का केवल जडतन ना शिव-कारण हो,
उपादान कारण शिव का-मुनि-ज्ञान, तरण ही तारण हो ।।२३८।।

ज्ञान चरित समदर्शन तीनो एकमेव घुल मिल जाना,
मोक्षमार्ग है यही समझ लो शिव सुख सम्मुख मिल जाना।
यही सेव्य है यही पेय है उपादेय है ध्येय यही,
मुमुक्षु-मुनि को अन्य सभी वस हेय रही या ज्ञेय रही ।।२३९।।

---

१ मिरा-मेरा

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति २४० ।।

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगेद्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः ।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ।। २४१ ।।

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः ।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तन्दुलम् ।। २४२ ।।

द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न ।
द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ।।२४३।।

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ।। २४४ ।।

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम् ।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत् ।। २४५ ।।

चरित ज्ञान-दृगमय ही शिवपथ, जिसमे जो यति थिति पाता,
ध्यान उसी का करता चिंतन करता निशिदिन रति साता।
निज मे विचरण करता पर से दूर सदा हो जीता है,
वही आर्य! अनिवार्य मुनीश्वर "समयसाररस" पीता है ॥२४०॥

इस विध पावन शिव फल दाता रत्नत्रय जो तजते है,
जड तन आश्रित यथा-जात मे केवल ममता भजते है।
अनुपम अखण्ड ज्योति पिण्ड शुचि समय सार को नहि लखते,
भले दिगम्बर वने रहे वे आत्म-वोध जव नहिं रखते ॥२४१॥

वाह्य—क्रिया मे उलझे रहते जड जन उलटे लटके हैं,
भाग्यहीन वे उन्हे न दर्शन मिलते अन्तर्घट के है।
जैसा तन्दुल वोध जिन्हे ना तुप का सग्रह करते हैं,
वैसा मोही आत्म ज्ञान विन, तपा-तपा तन मरते है ॥२४२॥

देह—नग्नता भर मे केवल, जो मुनि ममता रखते हैं,
समय सार को कभी नहि वे धर के समता लखते हैं।
निमित्त शिव का देह—नग्नता, पर—आश्रित है, पुद्गल है,
किन्तु ज्ञान तो उपादान है, निज आश्रित है, सद्वल है ॥२४३॥

वस करदो, वहु विकल्प जल्पो से कुछ नहि होने वाला,
परमारथ का अनुभव करलो, मानस मल धोने वाला।
स्वरस-सरस भरपूर-पूर्ण-शुचि ज्ञान विभा से भासुर है,
समय-सार ही सार विश्व मे जिस विन आकुल आ—सुर है ॥२४४॥

विश्वसार है विश्व—सुलोचन अक्षय, अक्षय—सुखकारी,
समय सारका कथन यहा अव पूर्ण हो रहा दुखहारी।
शुद्ध ज्ञान-घन-मय जो शिव सुख पावन परमानन्दपना,
उसे यही वस दिला, नशाता निश्चित मनका-द्वदपना ॥२४५॥

---

१ आसुर देवो तक अर्थात् समग्र ससार।

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम् ।
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ।। २४६ ।।

अचल उजल यह एक अखडित निज संवेदन मे आता,
किन ही बाधावो से-बाधित हो न, अबाधित है भाता।
इस विध केवल-ज्ञान निकेतन आत्म तत्व यह सिद्ध हुवा,
झुक झुक सविनय प्रणाम उसको करता "यह मुनि" शुद्ध हुवा ।।२४६।।

इति सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार.

दोहा

ज्ञान दुःख का मूल है ज्ञान हि भव का कूल।
राग सहित प्रतिकूल है राग रहित अनुकल ।।१।।

चुन चुन इनमें उचित को अनुचित मत चुन भूल।
समय सार का सार है निज विन पर सब धूल ।।२।।

स्याद्वाद-अधिकार

अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थिति ।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ॥ २४७ ॥

वाह्यार्थै परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्
विश्रान्त पररूप एव परितो ज्ञानं पशो सीदिति ।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरत पूर्ण समुन्मज्जति ॥ २४८ ॥

विश्व ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकल दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमय. पशु पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते ।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ॥ २४९ ॥

वाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लसद्
ज्ञेयकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुटचन् पशुर्नश्यति ।
एकद्रव्यतया सदा व्युदितया भेदभ्रम ध्वसय-
न्नेक ज्ञानमवाधितानुभवन पश्यत्यनेकातवित् ॥ २५० ॥

ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालन कल्पय-
न्नेकाकारचिकीर्षयास्फुटमपि ज्ञान पशुर्नेच्छति ।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगत ज्ञान स्वत क्षालित
पर्यायैस्तदनेकता परिमृशन्पश्यत्यनेकान्तवित् ॥ २५१ ॥

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चित
स्वद्रव्यानवलोकनेन परित शून्य पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुण सद्य समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धवोधमहसा पूर्णो भवन जीवति ॥ २५२ ॥

स्याद्वाद-अधिकार

उजल उजल स्याद्वाद-शुद्धि हो जो बुध को अति भाती है,
वस्तु-तत्व की सरल व्यवस्था इसीलिए की जाती है।
एक ज्ञान ही युगपत् होना उपाय उपेय किस विध है,
इसका भी कुछ विचार करते गुरुवर बुधजन इस विध है ।।२४७।।

पशु सम एकान्ती का निश्चित ज्ञान पूर्णत सोया है,
पर मे उलझा हुवा सदा है निज बल को बस खोया है।
स्यादवाद यद्यपि ज्ञान वह सकल ज्ञेय का है ज्ञाता,
तदपि निजी पन तजता नहि है स्वरस भरित ही है भाता ।।२४८।।

देख जगत को "ज्ञान" समझकर एकान्ती बन मनमानी,
पशु सम स्वैरी विचरण करता ज्ञेय-लीन वह अज्ञानी।
जगत-जगत मे रहा निरा, पर जगत[1] जानता स्याद्वादी,
जग मे रह कर जग से न्यारा, मुनिवर निज रस का स्वादी ।।२४९।।

पर पदार्थ के ग्रहण भाव कर आगत पर-प्रति-छवियो से,
ज्ञान-शक्ति अति निर्बल जिनका जड जन नशते पशुओ मे।
अनेकान्त को ज्ञानी लखता, ज्ञेय-भेद-भ्रम हरता है,
सतत उदित पर एक ज्ञान का, अबाध अनुभव करता है ।।२५०।।

पर प्रति-छवि से पंकिल चिति को इक विध, शुचि करने मानी,
स्वपर प्रकाशक ज्ञान स्वत पर उसे त्यागता अज्ञानी।
पर ज्ञेयो से चित्रित चिति को स्वत शुद्धतम स्याद्वादी,
पर्यायो वश अनेकता वस चिति मे लखता निज स्वादी ।। २५१।।

निज का अवलोकन ना करता एकान्ती पशु मर मिटता,
पूर्ण प्रकट स्थिर पर को लखता मुग्ध हुवा पर मे पिटता।
स्याद्वादी निज अवलोकन से पूरण-जीवन जीता है,
शुद्ध-बोध द्युति-पाकर भाता तुरत-राग से रीता है ।।२५२।।

---

१ जगत–जागृत–रहते हुए,

सर्वद्रव्यमय प्रपद्य पुरुष दुर्वासनावासित:
स्वद्रव्यभ्रमतः पशु. किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ।। २५३ ।।

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठ. सदा
सीदत्येव बहि· पततमभित पश्यन्पुमास पशु ।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मखनियतबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ।। २५४ ।।

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्
तुच्छीभूय पशु· प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन् ।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तिता
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ।। २५५ ।।

पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाश विदन्
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छ· पशु ।
अस्तितत्व निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन.
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ।। २५६ ।।

अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्व बहि-
र्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति ।
नास्तितत्व परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपु जीभवन ।। २५७ ।।

विश्रान्त परभावकलनान्नित्य बहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशु स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतन ।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
दारूढ· परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पित ।। २५८ ।।

निज आतम को नही जानता परमे रत, पा विकारता,
विषय-वासना वश निजको शठ सकल, द्रव्यमय निहारता ।
पर का निज मे अभाव लख, पर-पर को पर ही जान व्रती,
निज के शुचितम वोध तेज मे स्याद्वादी रममान यती ॥२५३॥

भिन्न क्षेत्र स्थित पदार्थ-दल को विषय वनाता अपना है,
वाहर भ्रमता, मरता निज को परमय लख सठ सपना है ।
निज को निज का विषय वनाकर निज मे निज वल समेटता,
आत्म क्षेत्र मे रत स्याद्वादी होता पर-पन सुमेटता ॥२५४॥

आत्म-क्षेत्र मे स्थिति पाने शठ भिन्न-क्षेत्र स्थित पदार्थपन,
तजे सग तज चिति-गत-ज्ञेयो मरता तजता निजार्थपन ।
निज में स्थित हो कर लखता नित पर मे निज की अभावता,
स्याद्वादी मुनि पर तजता पर तजता कभी न स्वभावता ॥२५५॥

पूर्व ज्ञान का विषय वना था उसको नशता लख, सो ही,
स्वयं ज्ञान का नाश मान पशु मरता हताश हो मोही ।
वाह्य वस्तुएं वार-वार उठ मिटती, परन्तु स्याद्वादी,
स्वीय काल वश, त्रिकाल ध्रुव निज को लख रहता ध्रुव स्वादी ॥२५६॥

ज्ञेयालम्वन जव से तव से—ज्ञान हुवा वे यो कहे वृथा,
ज्ञेयालम्वन-लोलुप वन सठ पर मे रमते सहे व्यथा ।
भिन्न काल का अभाव निज मे मान जान पे गतमानी,
सहज, नित्य, निज-निर्मित्त शुचितम ज्ञान पुज मे रत ज्ञानी ॥२५७॥

पर परिणति को निज परिणति लख पर मे पाखण्डी रमता,
निज महिमा का परिचय विन पशु एकान्ती भव-भव भ्रमता ।
सव मे निज-निज भाव भरे हैं उन सवसे अति दूर हुवा,
प्रकट निजामृत को अनुभवता स्याद्वादी नहिं चूर हुवा ॥२५८॥

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति ।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढः परभावविरहव्यालोकनिष्कंपितः ।। २५९ ।।

प्रादुर्भावविरामुद्रितवहज्ज्ञानांशनानात्मना
निर्ज्ञानात्क्षणभंगसंगपतितः प्रायः पशुर्नश्यति ।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टंकोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञानं भवन् जीवति ।। २६० ।।

टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वांछत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किंचन ।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ।। २६१ ।।

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ।
आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते ।। २६२ ।।

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम् ।
अलंघ्यशासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ।। २६३ ।।

विविध विश्व के सकल ज्ञेय का उद्भव अपने मे माने,
निर्भय स्वैरी शुद्ध भाव तज खेल-खेलते मन माने।
परका मुझ मे अभाव निश्चित समझ किन्तु यह मुनि ऐसा,
निजारूढ स्याद्वादी निश्चल लसे शुद्ध दर्पण जैसा ॥२५९॥

उद्भव व्यय से व्यक्त ज्ञान के विविध अश को देख तभी,
क्षणिक तत्व को मान कुधी जन सहते दुख अतिरेक सभी।
पै स्याद्विद चितिपन सिंचित सरस सुधारस सु पी रहा,
अडिग-अचल वन शुद्ध-वोध-धन सुजी रहा, मुनि सुधी रहा ॥२६०॥

निर्मल निश्चल वोध भरित निज आतम को शठ जान अहा!
उजल उछलती चित्ति परिणति से भिन्न आतम परमाण अहा।
नित्य ज्ञान हो भगुर वनता उसे किन्तु द्युतिमान, वही,
चेतन-परिणति वल से ज्ञानी ज्ञान-क्षणिकता लखे सही ॥२६१॥

तत्व ज्ञान से वचित ऐसे मूढ जनो को दर्शाता,
ज्ञान मात्र वह आतम तत्व है साधु जनो को हर्षाता।
अनेकान्त यह इस विध होता सतत सुशोभित अपने मे,
स्वय स्वानुभव मे जव आता मिटते सव है सपने ये ॥२६२॥

वस्तु तत्व की सरल व्यवस्था उचित रूप से करता है,
अपने को भी उचित स्थान पर स्थापित खुद ही करता है।
तीन लोक के नाथ जिनेश्वर जिन-शासन पावन प्यारा,
अनेकान्त यह स्वय सिद्ध है विपय वनाया जग सारा ॥२६३॥

दोहा

मेटे वाद-विवाद को निर्विवाद स्याद्वाद।
सव वादो को खुश रखे पुनि पुनि कर सवाद ॥१॥
समता भज, तज प्रथम तू पक्षपात परमाद।
स्याद्वाद आधार ले "समयसार" पढ वाद ॥२॥

साध्य-साधक-अधिकार

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः ।
एव क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु ।। २६४ ।।

नैकान्तसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्त· ।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सतो
ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलंघयन्त. ।। २६५ ।।

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकंपां
भूमिं श्रयति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमंति ।। २६६ ।।

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्त· ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री-
पात्रीकृत. श्रयति भूमिमिमा स एकः ।। २६७ ।।

चित्पिंडचंडिमविलासिविकासहास.
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः
आनंदसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ।। २६८ ।।

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदय. परमयं स्फुरतु स्वभाव. ।। २६९ ।।

साध्य-साधक-अधिकार

इसविध अनेक निज बल आकर होकर आतम भाता है,
सहज ज्ञान-घन को फिर भी नहिं तजता पावन साता है
आतम द्रव्य पर्यय का न्यारा अक्षय अव्यय केतन है,
क्रम-अक्रम-वर्ती पर्यय से शोभित होता चेतन है। २६४।

वस्तु तत्व ही अनेकान्तमय स्वय रहा, गुरु लिखते है
अनेकान्त के लोचन द्वारा जिसे सन्त जन लखते है।
स्यादवाद की और शुद्धि पा बनते मुनि जन वे ज्ञानी,
जिन मत से विपरीत किन्तु ना जाते बन के अभिमानी ।।२६५।।

किसी तरह पर यत्न सुधी जन वीतमोह बन गत रागी,
केवल निश्चल ज्ञान भाव का आश्रय करते बड भागी।
शिवका साधक रत्नत्रय वे फलत पा कर शिव गहते,
मूढ मोह वश विरागता बिन भव-भव भ्रमते दुख सहते ।।२६८।।

स्यादवाद से पूर्ण कुशलता पा अविचल सयम-धारी,
पल पल अविरल अविकल निर्मल निज को ध्यावे अविकारी।
ज्ञानमयी नय क्रियामयी नय इन्हे परस्पर मित्र बना,
पाता मुनिवर वही अकेला शुद्ध-चेतना मात्रपना ।।२६७।।

चेतन रस का पिण्ड चण्ड है सहज भाव से विहस रहा,
विराग मुनि मे इसविध आतम उदित हुवा है विलस रहा।
चिदानन्द से अचल हुवा वह एक रूप ही सदा हुवा,
शुद्ध ज्योति से पूर्ण भरा है प्रभात सुख का सदा हुवा ।।२६८।।

शुद्ध-भावमय विराग-मम-मन मे जब द्युतिपन उदित हुवा,
स्यादवाद से झगर झगर कर स्फुरित हुवा है मुदित हुवा।
अन्य भाव से फिर क्या मतलब भव या शिव पथ मे रखते,
स्वीय भाव बस उदित रहे यही भावना मुनि रखते ।।२६९।।

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंडयमान. ।
तस्मादखडमनिराकृतखडमेक-
मेकातशातमचल चिदह् महोऽस्मि ॥ २७० ॥

योऽय भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्र· स नैव ।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन् ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ॥ २७१ ॥

क्वचिल्लसति मेचक क्वचिन्मेचकामेचकं
क्वचित्पुनरमेचक सहजमेव तत्त्व मम ।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसा तन्मन
परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्र स्फुरत् ॥ २७२ ॥

इतो गतमनेकता दधदित सदाप्येकता-
मित.-क्षणविभगुर ध्रुवमित सदैवोदयात् ।
इत परमविस्तृत धृतमित प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुत वैभवम् ॥ २७३ ॥

कषायकलिरेकत स्खलति शातिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकत· स्पृशति मुक्तिरप्येकत. ।
जगत्त्रितयमेकत स्फुरति चिच्चकास्त्येकत.
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः ॥ २७४ ॥

जयति सहजतेज पुजमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूप ।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भ
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एष. ॥ २७५ ॥

यद्यपि वहुविध वहुवल आलय आतम तमनाशक साता,
नय के माध्यम ले लखता हू खण्ड-खण्ड हो नश जाता।
खण्ड निपेधित अत किए विन अखण्ड चेतन को ध्याता,
शान्त, शान्ततम अचल निराकुल छविमय केवल को पाता ॥२७०॥

ज्ञान मात्र हो ज्ञेय रूप मे यह जो मैं शोभित होता,
किन्तु ज्ञेय का ज्ञान मात्र नहिं तथापि हू वाधित होता।
ज्ञेय रूप-धर ज्ञान विकृतिया सतत उगलती उजियाली,
परन्तु ज्ञाता ज्ञान-ज्ञेयमय वस्तु मात्र मम है प्यारी ॥२७१॥

आत्म-तत्व मम चित्रित दिखता कभी चित्र विन लसता है,
चित्राचित्री कभी-कभी वह विस्मित सस्मित हसता है।
तथापि निर्मल-वोध-धारि के करे न मन को मोहित है,
चू कि परस्पर वहुविध वहुगुण-मिले आत्म मे शोभित है ॥२७२॥

द्रव्य दृष्टि से एक दीखता पर्यय वश वह नैक रहा,
क्षण-क्षण पर्यय मिटे क्षणिक है ध्रुव, गुण वश तू देख अहा ?
ज्ञान दृष्टि से विश्व व्याप्त पर स्वीय-देश मे खटा हुवा,
अद्भुत वैभव सहज आत्म का देखो निज मे पडा हुआ ॥२७३॥

वहती जिसमे कपाय-नाली शाति सुधा भी झरती है,
भव पीडा भी वही प्यार कर मुक्ति रमा मन हरती है।
तीन लोक भी आलोकित हैं अतिशय चिन्मय लीला है,
अद्भुत से अद्भुत-तम महिमा आतम की जय शीला है ॥२७४॥

सकल विश्व ही युगपत् जिसमे यदपि निरन्तर चमक रहा,
तदपि एक वन जयशाली है सहज तेज से दमक रहा।
निज रस पूरित रहा अत वह तत्व वोध से सहित रहा,
चेतन का जो चमत्कार है अचल व्यक्त हो स्फुरित रहा ॥२७५॥

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मायमात्म-
न्यनवरतनिमग्न धारयद् ध्वस्तमोहम् ।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्ता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं नि सपत्नस्वभावम् ।। २७६ ।।

यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तर
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जात क्रियाकारकैः ।
भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किंचिन्न किंचित्किल ।। २७७ ।।

स्वशक्तिससूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेय समयस्य शब्दैः ।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरे ।। २७८ ।।

चेतन-मय-शुचि "अमृतचन्द्र" की सौम्य ज्योति अवभासित है,
अविचल-आतम मे आतम से आतम को कर आश्रित है ।
बाधा विन वह रही अकेली रही न काली मोह-निशा,
फैली परित विमल-धवलिमा उजल उठी है दशो दिशा ।।२७६।।

स्वपर-रूप यह विपर्यास हो प्रथम ऐक्य कर निज तन मे,
रागादिक कर आतम उलझे कर्तृ-कर्म के उलझन मे ।
कर्म-कर्म-फल चेतन का फिर अनुभव-वश नित खिन्न हुवा,
ज्ञान-रूप मे निरत वही अब तन-मन से अति भिन्न हुवा ।।२७७।।

वस्तु तत्व की यथार्थता का वर्णन जिसने किया सही,
शब्द-समय ने 'समयसार' का स्वय निरूपण किया यही ।
कार्य-रहा नहिं अब कुछ करने "अमतचन्द्र" हू सूरि यदा,
लुप्त गुप्त हू मुमुप्त निज मे सुख अनुभवता भूरि सदा ।।२७८।।

श्री अमृतचन्द्रसूरिये नम

दोहा

दृग व्रत चिति की एकता, मुनिपन साधक भाव ।
साध्य सिद्ध शिव सत्य है, विगलित बाधक भाव ।। १ ।।

साध्य साधक ये सभी, सचमुच मे व्यवहार ।
निश्चय नय मय नयन मे समय समय का सार ।। २ ।।

वसन्त तिलका छन्द

आशीस लाभ तुम से यदि मैं न पाता,
जाता लिखा नहिं "निजामृत पान" साता।
दो "ज्ञान सागर" गुरो ! मुझको सुविद्या,
विद्यादिसागर बनू तजदू अविद्या ॥ १ ॥

दोहा

"कुन्द-कुन्द" को नित नमू, हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक मे, जीवन मम घुल जाय ॥ २ ॥

"अमृत चन्द्र" से अमृत, है झरता जग–अपरूप।
पी पी मम मन मृतक भी, अमर बना सुख कूप ॥ ३ ॥

तरणि "ज्ञान सागर" गुरो ! तारो मुझे ऋषीश।
करूणा कर ! करूणा करो कर से दो आशीश ॥ ४ ॥

सुफल

मुनि वन मन से जो सुधी करें "निजामृत पान"।
मोक्ष ओर अविरल बढे चढे मोक्ष सोपान ॥ ५ ॥

मंगलकामना

विस्मृत मम हो विगत सर्व विगलित हो मद मान ।
ध्यान निजातम का करूँ, करूँ निजी-गुण गान ॥ १ ॥
सादर शाश्वत शान्तमय सुखमय सार को जान ।
गट गट झट पट चाव से करूँ "निजामृतपान" ॥ २ ॥
रम रम शम-दम में सदा नत रस परसे भूल ।
रत साहस फलत: मिले भव का पल में कूल ॥ ३ ॥
चिदानन्द का धाम है ललाम आतम राम ।
तन मन से त्यागी दिखें मन पे लगे लगाम ॥ ३ ॥
निज निरामय तत्त्व मैं नियत निरंजन नित्य ।
ज्ञान मान इस विध तजूँ विषय कषाय अनित्य ॥ ४ ॥
मृदुता तन मन वचन में धारो बन नवनीत ।
तब जप तप सार्थक बनें प्रथम बनो भवभीत ॥ ६ ॥
पापी से मत पाप से घृणा करो अयि ! आर्य ।
नर वह ही बस पतित हो पावन कर शुभ कार्य ॥ ७ ॥

भूल क्षम्य हो

लेखक, कवि मैं हूँ नहीं, मुझमें कुछ नहिं ज्ञान ।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ, शोध पढ़ें, श्रीमान ॥ ८ ॥

स्थान एवं समय परिचय

कुण्डल गिरि के पास है नगर दमोह महान ।
ससंघ पहुँचा मुनि जहाँ भवि जन पुण्य महान् ॥ ९ ॥
देव-गगन गति गंध की वीर जयन्ती आज ।
पूर्ण किया इस ग्रन्थ को निजानन्द के काज ॥१०॥

वीर सं० २५०४ की वीर जयन्ती के शुभदिवस पर यह "निजामृतपान" दमोह—नगर में सानन्द सम्पूर्ण हुआ ।

हम आभारी हैं आपके आर्थिक सहयोग के जिससे यह प्रकाशन सम्भव हो सका :—

१००१)	गुप्त
६०१)	सेठ सरदारमलजी खण्डाका
५०१)	मै० रामसुख चुन्नीलाल
३०१)	श्री किस्तूरचन्दजी गोपीचन्दजी सेठी
२५१)	श्री हीरालालजी कटारिया
२०१)	श्री राधेलालजी वाणवाला
१०१)	श्री निहालचन्दजी जैन
१०१)	श्री रमेशचन्दजी मुलतानी
१०१)	श्री रतनलालजी सेठी
१०१)	श्री भवरलालजी खिन्दूका
१०१)	श्री रमेशचन्दजी गगवाल
१०१)	श्री विनोदकुमारजी साह
१०१)	श्री सुमेरकुमारजी जैन
५१)	श्री ताराचन्दजी जैन